THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

अर्हम्

जैनाचार्योंका शासनभेद

(जैनतीर्थंकरोंके शासनभेदसहित)

लेखक

जुगलकिशोर मुख्तार

सरसावा जि० सहारनपुर

[ग्रंथपरीक्षा, जिनपूजाधिकारमीमांसा, उपासनातत्त्व, विवाह-समुद्देश्य, विवाहक्षेत्रप्रकाश, वीरपुष्पांजलि, स्वामी समन्तभद्र (इतिहास) आदि अनेक ग्रन्थोंके रचयिता, तथा जैनहितैषी आदि पत्रोंके भूतपूर्व सम्पादक।]

प्रकाशक

छगनमल बाकलीवाल

मालिक—जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय

हीराबाग, पो० गिरगांव-बम्बई।

आश्विन, वि० संवत् १९८५

प्रथम संस्करण] [मूल्य पाँच आने

प्रकाशक
छगनमल बाकलीवाल
मालिक—जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय
हीराबाग, पो० गिरगाँव-बम्बई।

मुद्रक—
मंगेश नारायण कुलकर्णी
कर्नाटक प्रेस
३१८ ए, ठाकुरद्वार, बम्बई २.

प्रकाशकके दो शब्द

जैन समाजके सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारकी लेखनीसे प्रकट हुआ यह ग्रन्थ जैन साहित्यमें एक बिलकुल ही नई चीज़ है—मुख्तार साहबके गहरे अनुसंधान, विचार तथा परिश्रमका फल है। इसमें बड़ी खोजके साथ जैनाचार्योंके पारस्परिक शासनभेदको दिखलाते हुए, श्रावकोंके अष्ट मूलगुणों, पंच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों, चार शिक्षाव्रतों और रात्रिभोजनत्याग नामक व्रतपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। साथ ही, जैनतीर्थंकरोंके शासनभेदका भी, उसके कारण सहित, कितनाही सप्रमाण दिग्दर्शन कराया गया है और उसमें मूलोत्तर गुणोंकी व्यवस्थाको भी खोला गया है। यह ग्रन्थ जैनशासनके मर्म, रहस्य अथवा उसकी वस्तुस्थितिको समझनेके लिए बड़ा ही उपयोगी है और एक प्रकारसे जिनवाणीके रहस्योद्घाटनकी कुंजी प्रस्तुत करता है। इससे विवेकजागृतिके साथ साथ, बहुतोंका जिनवाणी—विषयक भ्रम दूर होगा—गलतफहमी मिटेगी—विचार धारा पलटेगी, कदाग्रह नष्ट होगा और उन्हें जैनशास्त्रोंकी प्रकृतिका सच्चा बोध हो सकेगा; और तब वे उनसे ठीक लाभ भी उठा सकेंगे। ग्रन्थ विद्वानोंके पढ़ने तथा विचार करने योग्य है। प्रत्येक जैनीको इसे ज़रूर पढ़ना चाहिये और समाजमें इसका प्रचार करना चाहिये। मुख्तारजीका विचार दूसरे भी कितने ही विषयोंपर जैनाचार्योंके शासनभेदको दिखलानेका है। उसके लिखे जानेपर ग्रन्थका दूसरा भाग प्रकट किया जायगा।

प्रकाशक

विषय-सूची

विषय				पृष्ठ
१ प्रकाशकके दो शब्द	....	....	....	(ग)
२ प्रास्ताविक निवेदन	....	....	....	१
३ अष्ट मूलगुण	....	....	....	७
४ अणुव्रत और रात्रिभोजनविरति		....	....	२१
५ गुणव्रत और शिक्षाव्रत....		....	....	४१
६ परिशिष्ट	....	....	....	६५
(क) जैनतीर्थंकरोंका शासनभेद (दिगम्बरग्रन्थोंपरसे)				६५
(ख) ,, (श्वेताम्बर ग्रन्थोंपरसे)				७६
७ शुद्धिपत्र	....	....	....	८०

अर्हम्

जैनाचार्योंका शासनभेद

प्रास्ताविक निवेदन

कुछ समय हुआ जब मैंने 'जैनतीर्थंकरोंका शासनभेद' नामका एक लेख लिखा था, जो अगस्त सन् १९१६ के जैनहितैषीमें प्रकाशित हुआ है *। इस लेखमें श्रीवट्टकेराचार्यप्रणीत 'मूलाचार' ग्रंथके आधारपर यह प्रदर्शित और सिद्ध किया गया था कि **समस्त जैन तीर्थंकरोंका शासन एक ही प्रकारका नहीं रहा है। बल्कि समयकी आवश्यकतानुसार—लोकस्थितिको देखते हुए—उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन ज़रूर होता रहा है।** और इस लिये जिन लोगोंका ऐसा खयाल है कि जैन तीर्थंकरोंके उपदेशमें रंचमात्र भी भेद या परिवर्तन नहीं होता—जो वचनवर्गणा एक तीर्थंकरके मुखसे खिरती है वही, जँची तुली, दूसरे तीर्थंकरके मुँहसे निकलती है, उसमें ज़रा भी फेरफार नहीं होता—वह खयाल निर्मूल जान पड़ता है। साथ ही, मूलगुण-उत्तरगुणोंकी प्ररूपणाके कुछ रहस्यका दिग्दर्शन कराते हुए, यह भी बतलाया था कि **सर्व समयोंके मूल-गुण कभी एक प्रका-**

---

* यह लेख कुछ परिवर्तन और परिवर्धनके साथ, अन्तमें बतौर परिशिष्टके दे दिया गया है।

रके नहीं हो सकते। किसी समयके शिष्य संक्षेपप्रिय होते हैं और किसी समयके विस्ताररुचिवाले। कभी लोगोंमें ऋजुजडताका अधिक संचार होता है, कभी वक्रजडताका और कभी इन दोनोंसे अतीत अवस्था होती है। किसी समयके मनुष्य स्थिरचित्त, दृढबुद्धि और बलवान् होते हैं और किसी समयके चलचित्त, विस्मरणशील और निर्बल। कभी लोकमें मूढता बढ़ती है और कभी उसका ह्रास होता है। इस लिये जिस समय जैसी जैसी प्रकृति और योग्यताके शिष्योंकी—उपदेशपात्रोंकी—बहुलता होती है, उस समय उस वक्तकी जनताको लक्ष्य करके तीर्थंकरोंका उसके उपयोगी वैसा ही उपदेश तथा वैसा ही व्रतनियमादिकका विधान होता है। उसीके अनुसार मूलगुणोंमें भी हेरफेर हुआ करता है।

आज मैं अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीके पश्चात् होनेवाले जैनाचार्योंके परस्पर शासनभेदको दिखलाना चाहता हूँ। यह परस्परका शासनभेद दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही संप्रदायोंमें पाया जाता है। अतः, इस लेखमें, दिगम्बराचार्योंके शासन-भेदको प्रकट करते हुए श्वेताम्बराचार्योंके शासनभेदको भी यथाशक्ति दिखलानेकी चेष्टा की जायगी। इस शासन-भेदको प्रदर्शित करनेमें मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि जैनियोंको वस्तु-स्थितिका यथार्थ परिज्ञान हो जाय, वे अपने वर्तमान आगमकी वास्तविक स्थिति और उसके यथार्थ स्वरूपको भले प्रकार समझने लगें और इस तरहसे प्रबुद्ध होकर अपना वास्तविक हितसाधन करनेमें समर्थ हो सकें। साथ ही, भेद-विषयोंके सामने आनेपर विद्वानोंद्वारा उनके कारणोंका गहरा अनुसंधान हो सके और फिर इस अनुसंधान-द्वारा तत्तत्कालीन सामाजिक

तथा देशिक परिस्थितियोंका बहुत कुछ पता चलकर ऐतिहासिक क्षेत्रपर एक अच्छा प्रकाश पड़ सके। हमारे जैनी भाई, आमतौरपर, अभीतक यह समझे हुए हैं कि हिन्दू धर्मके आचार्योंमें ही परस्पर मत-भेद था। इसीसे उनके श्रुति-स्मृति आदि ग्रंथ विभिन्न पाये जाते हैं। जैनाचार्य इस मतभेदसे रहित थे। **उन्होंने जो कुछ कहा है वह सब सर्वज्ञोदित अथवा महावीर भगवानकी दिव्यध्वनि-द्वारा उपदेशित ही कहा है।** और इस लिये, उन सबका एक ही शासन और एक ही मत था। परन्तु यह सब समझना उनकी भूल है। जैनाचार्योंमें भी बराबर मत-भेद होता आया है। यह दूसरी बात है कि उसकी मात्रा, अपेक्षाकृत, कुछ कम रही हो, परन्तु मतभेद रहा जरूर है। मत-भेदका होना सर्वथा ही कोई बुरी बात भी नहीं है, जिसे घृणाकी दृष्टिसे देखा जाय। सदुद्देश्य और सदाशयको लिये हुए मत-भेद बहुत ही उन्नति-जनक होता है और उसे धर्म तथा समाजकी जीवनीशक्ति और प्रगतिशीलताका द्योतक समझना चाहिये। जब, थोड़े ही काल × बाद **महावीर** भगवानको **श्रीपार्श्वनाथ** तीर्थंकरके शासनसे अपने शासनमें, समयानुसार, कुछ विभिन्नताएँ करनी पड़ीं—जैसा कि 'मूलाचार' आदि ग्रंथोंसे प्रकट है—तब दो ढाई हजार वर्षके इस लम्बे चौड़े समयके भीतर, देशकालकी आवश्यकताओं आदिके अनुसार, यदि जैनाचार्योंके शासनमें परस्पर कुछ भेद होगया है—वीर भगवानके शासनसे भी उनके शासनमें कुछ विभिन्नता आगई है—तो इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात अथवा अप्राकृतिकता नहीं है। जैनाचार्य देश-कालकी परिस्थितियोंके

× कोई २२० वर्षके बाद ही; क्योंकि **पार्श्वनाथके** निर्वाणसे **महावीरके** तीर्थका प्रारंभ प्रायः इतने ही वर्षोंके बाद कहा जाता है।

शासनसे बाहर नहीं हो सकते *। इन्हीं सब बातोंपर प्रकाश डालनेके लिये यह जैनाचार्योंके शासन-भेदको प्रदर्शित करनेका प्रयत्न किया जाता है।

यहाँपर मैं इतना और भी प्रकट कर देना जरूरी समझता हूँ कि जैनतीर्थंकरोंके विभिन्न शासनमें परस्पर उद्देश्यभेद नहीं होता। समस्त जैनतीर्थंकरोंका वही मुख्यतया एक उद्देश्य '**आत्मासे कर्ममलको दूर करके उसे शुद्ध, सुखी, निर्दोष और स्वाधीन बनाना**' होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि **संसारी जीवोंको संसार-रोग दूर करनेके मार्गपर लगाना ही जैनतीर्थंकरोंके जीवनका प्रधान उद्देश्य होता है।** एक रोगको दूर करनेके लिये जिस प्रकार अनेक औषधियाँ होती हैं और वे अनेक प्रकारसे व्यवहारमें लाई जाती हैं; रोगशान्तिके लिये उनमेंसे जिस वक्त जिस जिस ओषधिको जिस जिस विधिसे देनेकी जरूरत होती है वह उस वक्त उसी विधिसे दी जाती है—इसमें न कुछ विरोध होता है और न कुछ बाधा ही आती है, उसी प्रकार संसाररोग या कर्मरोगको दूर करनेके भी अनेक साधन और उपाय होते हैं और जिनका अनेक प्रकारसे प्रयोग किया जाता है; उनमेंसे तीर्थंकर देव अपनी अपनी समयकी स्थितिके अनुसार जिस जिस उपायका जिस जिस रीतिसे प्रयोग करना उचित समझते हैं उसका उसी रीतिसे प्रयोग करते हैं। उनके इस प्रयोगमें किसी प्रकारका विरोध या बाधा उपस्थित होनेकी संभावना नहीं हो सकती। परन्तु

* इन्द्रनन्दिने अपने 'नीतिसार' ग्रंथमें, यह प्रकट करते हुए कि पंचम कालमें महावीर भगवानका शासन इस भरतक्षेत्रमें नानासंघोंसे आकुल (पीडित) हो गया है, खेदके साथ लिखा है '**विचित्राः कालशक्तयः**'—कालकी शक्तियाँ बडी ही विचित्र हैं। उनका शासन सभीपर होता है; कोई उससे बच नहीं सकता।

जैनाचार्योंके सम्बन्धमें—उनके विभिन्न शासनके विषयमें—ऐसा कोई नियम नहीं हो सकता; वह परस्पर विरुद्ध, बाधित और उद्देश्य-भेदको लिये हुए भी हो सकता है। क्योंकि जैनाचार्य, तीर्थंकरों अथवा इतर केवल-ज्ञानियोंके समान, ज्ञानादिककी चरम सीमाको पहुँचे हुए नहीं होते। उनका ज्ञान परिमित, पराधीन और परिवर्तनशील होता है। अज्ञान और कषायका भी उनके उदय पाया जाता है। वे राग-द्वेषसे सर्वथा रहित नहीं होते। साथ ही, उन्हें आगम-ज्ञानकी जो कुछ प्राप्ति होती है वह सब गुरुपरम्परासे होती है। गुरुपरम्परामें केवलियोंके पश्चात् जितने भी आचार्य हुए हैं वे सब क्षायोपशमिक ज्ञानके धारक हुए हैं —सबोंका बुद्धिवैभव समान नहीं था, उनके ज्ञानमें बहुत कुछ तरत-मता पाई जाती थी—इस लिये वे सभी आगमज्ञानको अपने अपने मतिविभवानुरूप ही ग्रहण करते आए हैं। धारणाशक्ति और स्मृतिज्ञान भी सबोंका बराबर नहीं था, बल्कि उसमें उत्तरोत्तर कमीका उल्लेख पाया जाता है, इसलिए उन्होंने स्वकीय गुरुओंसे जो कुछ आगमज्ञान प्राप्त किया उसे ज्योंका त्यों ही अपने शिष्यादिकोंके प्रति प्रतिपादन कर दिया, ऐसा कोई नियम नहीं हो सकता। **यह भी नहीं कहा जा सकता कि, जो उपदेश अनेक अज्ञानवासित और कषायानुरंजित हृदयोंमेंसे होकर प्रतिकूल परिस्थितियोंकी कड़ी धूपमें बाहर आता है वह ज्योंका त्यों ही बना रहता है, उसमें भिन्न प्रकारके गंध-वर्णके संसर्गकी संभावना ही नहीं हो सकती, अथवा वह बाह्य परिस्थितियोंके तापसे उत्तप्त ही नहीं होता।** ऐसी हालत होते हुए आचार्योंके शासनमें—उनके वर्तमान ग्रंथोंमें—यदि कहीं परस्पर **विरोध**, **बाधा** और **असमीचीनताका** भी दर्शन होता है तो इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है।

आश्चर्यकी बात तो तब होगी यदि कोई विद्वान् इस बातके कहनेका साहस करे कि संपूर्ण जैनाचार्योंने—जिनमें भट्टारक लोग भी शामिल हैं—जो कुछ भी, विरुद्धाविरुद्धरूपसे, कथन किया है वह सब महावीर भगवान्के द्वारा ही प्रतिपादित हुआ है। **वास्तवमें महावीर भगवान्के द्वारा इन सब विभिन्न मतोंका प्रतिपादन होना नहीं बनता।** संभव है कि उन्होंने इनमेंसे किसी एक मतका प्रतिपादन किया हो, अथवा यह भी संभव है कि उन्हें इन विभिन्न मतोंमेंसे किसी भी मतके प्रतिपादन करनेकी जरूरत ही पैदा न हुई हो, और ये सब विभिन्न कल्पनाएँ आचार्योंके मस्तिष्कोंसे ही उत्पन्न हुई हों। कुछ भी हो, आचार्योंके मस्तकोंसे देशकालानुसार नवीन कल्पनाओंका उत्पन्न होना भी कोई बुरी बात नहीं है, यदि वे कल्पनाएँ जैनधर्मके मूल सिद्धान्तोंके विरुद्ध न हों। ऐसी कल्पनाएँ कभी कभी बहुत ही कार्यसाधक और उपयोगी सिद्ध होती हैं। परन्तु देखना यह है कि ऐसी विभिन्न कल्पनाओं अथवा विभिन्न शासनोंकी हालतमें हमारा क्या कर्तव्य है। हमारा कर्तव्य है कि हम साम्प्रदायिक मोह, व्यक्तिगत मोह तथा पक्षपातको छोड़कर अपनी बुद्धिसे उनकी जाँच करें और जाँच करनेपर उनमेंसे जो कल्पना तथा मत हमें युक्ति-प्रमाणसे सिद्ध, जैनसिद्धान्तोंके अविरुद्ध और साथ ही समयानुसार उपयोगी प्रतीत हो उसको ग्रहण करें, **शेषका सादर परित्याग किया जाय।** यदि हमारी सदसद्विवेकवती बुद्धिमें, देशकालकी वर्त्तमान स्थितियोंके अनुसार, किसी ऐसी कल्पना तथा मतमें कुछ **अविरुद्ध परिवर्तन** करनेकी जरूरत हो तो **उसे उक्त परिवर्तनके साथ स्वीकार करें।** और यदि एकसे अधिक मत तथा कल्पनाएँ हमें युक्तियुक्त, अविरुद्ध और उपयोगी प्रतीत हों तो **उनमेंसे चाहे जिसको ग्रहण करें और चाहे जिसपर आचरण करें।** परन्तु

इन सभी अवस्थाओंमें **परित्यक्त, अपरिवर्तित** और **अनाचरित** मत तथा कल्पनाके धारकोंके साथ हमें किसी प्रकारका **द्वेष रखने** या उन्हें **घृणाकी दृष्टिसे देखनेकी** जरूरत नहीं है। बन सके तो उन्हें प्रेमपूर्वक समझाना और यथार्थ वस्तुस्थितिका ज्ञान कराना चाहिये। व्यर्थके साम्प्रदायिक मोह, व्यक्तिगत मोह और पक्षपातके वशीभूत होकर वादविवादके झंडे खड़े करना, आपसमें वैर-विरोध बढ़ाना, एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे देखना और इस तरहपर अपनी सामाजिक तथा आत्मिक शक्तिको निर्बल बनाकर उन्नतिमें बाधक होना और साथ ही अनेक विपत्तियोंको जन्म देनेका कारण बनना कदापि ठीक नहीं है। ऐसे ही सदाशयोंको लेकर यह जैनाचार्योंके शासन-भेदको दिखलानेका यत्न किया जाता है।

अष्ट मूलगुण

जैनधर्ममें जिस प्रकार मुनियोंके लिये मूलगुणों और उत्तरगुणोंका विधान किया गया है उसी तरहपर श्रावकों—जैनगृहस्थोंके लिये भी मूलोत्तरगुणोंका विधान पाया जाता है। मूलगुणोंसे अभिप्राय उन व्रतनियमादिकसे है जिनका अनुष्ठान सबसे पहले किया जाता है और जिनके अनुष्ठान पर ही उत्तरगुणोंका अथवा दूसरे व्रतनियमादिकका अनुष्ठान अवलम्बित होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जिसप्रकार मूलके होते ही वृक्षके शाखा, पत्र, पुष्प और फलादिकका उद्भव हो सकता है उसी प्रकार मूलगुणोंका आचरण होते ही उत्तर गुणोंका आचरण यथेष्ट बन सकता है। श्रावकोंके लिये वे मूलगुण

आठ रक्खे गये हैं । परंतु इन आठ मूलगुणोंके प्रतिपादन करनेमें आचार्योंके परस्पर मत-भेद है । उसी मत-भेदको यहाँपर, सबसे पहले, दिखलाया जाता है:—

(१) श्रीसमन्तभद्राचार्य, अपने ‘ रत्नकरंडश्रावकाचार ’में, इन गुणोंका प्रतिपादन इस प्रकारसे करते हैं—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥

अर्थात्—मद्य, मांस और मधुके त्यागसहित पंच अणुव्रतोंके पालनको, श्रमणोत्तम, गृहस्थोंके अष्ट मूलगूण कहते हैं। पंच अणुव्रतोंसे अभिप्राय स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह नामके पंच पापोंसे विरक्त होनेका है। इन व्रतोंके कथनके अनन्तर ही आचार्य-महोदयने उक्त पद्य दिया है।

(२) ‘ आदिपुराण ’ के प्रणेता श्रीजिनसेनाचार्य समन्तभद्रके इस उपर्युक्त कथनमें कुछ परिवर्तन करते हैं । अर्थात्, वे ‘ मधु-त्याग ’ को मूलगुणोंमें न मानकर उसके स्थानमें ‘ द्यूत-त्याग ’ को एक जुदा मूलगुण वतलाते हैं और शेष गुणोंका, समन्तभद्रके समान ही, ज्योंका त्यों प्रतिपादन करते हैं। यथा:—

हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च वादरभेदात् ।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥

नहीं माल्रम जिनसेनाचार्यने ‘ मधुत्याग ’ को मूलगुणोंसे निकाल कर उसके स्थानमें ‘ द्यूतत्याग ’ को क्यों प्रविष्ट किया है । संभव है कि दक्षिण देशकी, जहाँ आचार्य महाराजका निवास था, उस समय

ऐसी ही परिस्थिति हो जिसके कारण उन्हें ऐसा करनेके लिये वाध्य होना पड़ा हो—वहाँ द्यूतका अधिक प्रचार हो और उससे जनताकी हानि देखकर ही ऐसा नियम वनानेकी जरूरत पड़ी हो—अथवा सातों व्यसनोंका मूलगुणोंमें समावेश कर देनेकी इच्छासे ही यह परिवर्त्तन स्वीकार किया गया हो। और 'मधुविरति' को इस वजहसे निकालना पड़ा हो कि उसके रखनेसे फिर मूलगुणोंकी प्रसिद्ध 'अष्ट' संख्यामें वाधा आती थी। अथवा उसके निकालनेकी कोई दूसरी ही वजह हो। कुछ भी हो, दूसरे किसी भी प्रधानाचार्यने, जिसने अष्ट मूलगुणोंका प्रतिपादन किया है, 'मधुविरति' को मूलगुण माननेसे इनकार नहीं किया और न 'द्यूतविरति' को मूलगुणोंमें शामिल किया है।

(३) 'यशस्तिलक' के कर्ता श्रीसोमदेवसूरि मद्य, मांस और मधुके त्यागरूप समन्तभद्रके तीन मूलगुणोंको तो स्वीकार करते हैं परंतु पंचाणुव्रतोंको मूलगुण नहीं मानते, उनके स्थानमें पंच उदुम्बर फलोंके—प्लक्ष, न्यग्रोध, पिप्पलादिके—त्यागका विधान करते हैं और लिखते हैं कि आगममें गृहस्थोंके ये आठ मूलगुण कहे हैं। यथाः—

मद्यमांसमधुत्यागाः सहोदुम्बरपंचकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते॥

'भावसंग्रह' के कर्ता देवसेन आचार्य भी इसी मतके निरूपक हैं। यथाः—

महुमज्जमंसविरई चाओ पुण उंवराण पंचण्हं।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुडु देसविरयम्मि॥ ३५६॥

'पंचाध्यायी' के कर्ता *महोदयका भी यही मत है। और वे यहाँ तक लिखते हैं कि इन आठ मूलगुणोंके विना कोई नामका भी श्रावक नहीं होता। यथाः—

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपंचकः।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही॥
उ०-७२६॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपायके निर्माता श्रीअमृतचंद्रसूरि भी इसी मतके पोषक हैं। यद्यपि उन्होंने, अपने ग्रंथमें, अहिंसा व्रतका वर्णन करते हुए इनका विधान किया है और इन्हें स्पष्टरूपसे 'मूलगुण' ऐसी संज्ञा नहीं दी है, तो भी 'हिंसाके त्यागकी इच्छा रखनेवालोंको पहले ही इन मद्य-मांसादिकको छोड़ना चाहिए,' 'इन आठ पापके ठिकानोंको त्याग कर ही शुद्धबुद्धिजन जिनधर्मकी देशनाके पात्र होते हैं;' इन वचनोंसे अष्ट मूलगुणका ही साफ़ आशय पाया जाता है। यथाः—

मद्यं मांसं क्षौद्रं पंचोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव॥ ६१॥
अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवंति पात्राणि शुद्धधियः॥ ७४॥

उपर्युक्त चारों ग्रंथोंके अवतरणोंसे यह विलकुल स्पष्ट है कि इनके कर्ता आचार्योंने '**पंच अणुव्रतों**' के स्थानमें '**पंच उदुम्बर फलोंके त्याग**' का विधान किया है और इसलिए इन आचार्योंका शासन **समन्तभद्र** और **जिनसेन** दोनोंके शासनसे एकदम विभिन्न जान पड़ता

* 'पंचाध्यायी'के कर्ता **कवि राजमल्ल** हुए हैं, जिनका वनाया हुआ 'लाटी-संहिता' नामका एक श्रावकाचार ग्रंथ भी है। उसमें भी आपने अपना यह मत इसी श्लोकमें दिया है।

है। कहाँ पंचाणुव्रत और कहाँ पंचोदुम्बर फलोंका त्याग! दोनोंमें जमीन आसमानकासा अन्तर पाया जाता है। वस्तुतः विचार किया जाय तो पंच उदुम्बर फलोंका त्याग मांसके त्यागमें ही आ जाता है; क्योंकि इन फलोंमें चलते फिरते त्रसजीवोंका समूह साक्षात् भी दिखलाई देता है, इनके भक्षणसे मांसभक्षणका स्पष्ट दोष लगता है, इसीसे इनके भक्षणका निषेध किया जाता है। और इसलिये जो मांसभक्षणके त्यागी हैं वे प्रायः कभी इनका सेवन नहीं कर सकते। ऐसी हालतमें—मांस-त्याग नामका एक मूलगुण होते हुए भी—पंच उदुम्बर फलोंके त्यागको, जिनमें परस्पर ऐसा कोई विशेष भेद नहीं है, पाँच अलग अलग मूल-गुण करार देना और साथ ही पंचाणुव्रतोंको मूलगुणोंसे निकाल डालना एक बड़ी ही विलक्षण बातमालूम होती है। इस प्रकारका परिवर्तन कोई साधारण परिवर्तन नहीं होता। यह परिवर्तन कुछ विशेष अर्थ रखता है। इसके द्वारा मूलगुणोंका विषय बहुत ही हलका किया गया है और इस तरहपर उन्हें अधिक व्यापक बनाकर उनके क्षेत्रकी सीमाको बढ़ाया गया है। बात असिलमें यह माळूम होती है कि मूल और उत्तर गुणोंका विधान व्रतियोंके वास्ते था। अहिंसादिक पंचव्रतोंका जो सर्वदेश (पूर्णतया) पालन करते हैं वे महाव्रती, मुनि अथवा यति आदिक कहलाते हैं और जो उनका एकदेश (स्थूल रूपसे) पालन करते हैं उन्हें देशव्रती, श्रावक अथवा देशयति कहा जाता है।

जब महाव्रतियोंके २८ मूलगुणोंमें अहिंसादिक पंच महाव्रतोंका वर्णन किया गया है तब देशव्रतियोंके मूलगुणोंमें पंचाणुव्रतोंका विधान होना स्वाभाविक ही है और इसलिए समन्तभद्रने पंच अणुव्रतोंको लिए हुए श्रावकोंके अष्ट मूलगुणोंका जो प्रतिपादन किया है वह युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। परंतु बादमें ऐसा जान पड़ता है कि जैन गृहस्थोंको परस्परके

इस व्यवहारमें कि 'आप श्रावक हैं,' और 'आप श्रावक नहीं हैं' कुछ भारी असमंजसता प्रतीत हुई है। और इस असमंजसताको दूर करनेके लिए अथवा देशकालकी परिस्थितियोंके अनुसार सभी जैनियोंको एक श्रावकीय झंडेके तले लाने आदिके लिये जैनचार्योंको इस वातकी जरूरत पड़ी है कि मूलगुणोंमें कुछ फेरफार किया जाय और ऐसे मूल-गुण स्थिर किये जायँ जो व्रतियों और अव्रतियों दोनोंके लिये साधारण हों। वे मूलगुण मद्य, मांस और मधुके त्यागरूप तीन हो सकते थे, परंतु चूँकि पहलेसे मूलगुणोंकी संख्या आठ रूढ़ थी, इस लिये उस संख्याको ज्योंका त्यों कायम रखनेके लिये उक्त तीन मूलगुणोंमें पंचो-दुम्बर फलोंके त्यागकी योजना की गई है और इस तरह पर इन सर्व-साधारण मूलगुणोंकी सृष्टि हुई जान पड़ती है। ये मूलगुण व्रतियों और अव्रतियों दोनोंके लिये साधारण हैं, इसका स्पष्टीकरण पंचाध्यायीके निम्न पद्यसे भले प्रकार हो जाता है:—

* तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणां।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे॥ उ०-७२३॥

परंतु यह वात ध्यानमें रखनी चाहिये कि समन्तभद्र-द्वारा प्रतिपादित मूलगुणोंका व्यवहार अव्रतियोंके लिये नहीं हो सकता, वे व्रतियोंको ही लक्ष्य करके लिखे गये हैं, यही दोनोंमें परस्पर भेद है। अस्तु; इस प्रकार **सर्वसाधारण** मूलगुणोंकी सृष्टि होनेपर, यद्यपि, इन गुणोंके धारक अव्रती भी श्रावकों तथा देशव्रतियोंमें परिगणित होते हैं—**सोम-देवने**, यशस्तिलकमें, उन्हें साफ तौरसे '**देशयति**' लिखा है—तो भी वास्तवमें उन्हें **नामके ही** श्रावक (**नामतः श्रावकः**) अथवा

* यह पद्य 'लाटीसंहिता' में भी पाया जाता है।

देशयति समझना चाहिये, जैसा कि ऊपर उद्धृत किये हुए पंचाध्यायीके पद्य नं० ७२६ से प्रकट है। **असिल** श्रावक तो वे ही हैं जो पंच अणुव्रतोंका पालन करते हैं। और इस सब कथनकी पुष्टि **शिवकोटि**-आचार्यके निम्न वाक्यसे भी होती है, जिसमें पंच-अणुव्रतोंके पालन-सहित मद्य, मांस, और मधुके त्यागको 'अष्टमूलगुण' लिखा है और साथही यह बतलाया है कि पंच उदम्बरवाले जो अष्ट मूलगुण हैं वे अर्भकों—बालकों, मूर्खों, छोटों अथवा कमजोरों—के लिये हैं। और इससे उनका साफ़ तथा खास सम्बन्ध अव्रतियोंसे जान पड़ता है यथाः—

मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः।
अष्टौ मूलगुणाः पंचोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥ १९ ॥

—रत्नमाला

(४) 'उपासकाचार'के कर्ता **श्रीअमितगति** आचार्य सोम-देवादि आचार्योंके उपर्युक्त मूलगुणोंमें कुछ वृद्धि करते हैं। अर्थात्, वे 'रात्रिभोजन-त्याग' नामके एक मूलगुणका, साथमें, और विधान करते हैं। यथाः—

मद्यमांसमधुरात्रिभोजन-क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतं ॥ ५-१ ॥

अमितगतिके इस कथनसे मूलगुण आठके स्थानमें नौ हो जाते हैं। और यदि 'क्षीरवृक्षफलवर्जन'को, एक ही मूलगुण माना जाय तो मूलगु-णोंकी संख्या फिर पाँच ही रह जाती है। शायद इसी खयालसे आचार्य महाराजने अपने ग्रंथमें मूलगुणोंकी कोई संख्या निर्दिष्ट नहीं की। सिर्फ़ अन्तमें इतना ही लिख दिया है कि '**आदावेते स्फुटमिह गुणाः**

निर्मला धारणीयाः ।' अर्थात् सबसे पहले ये निर्मल गुण धारण करने चाहियें। इस 'रात्रिभोजन-त्याग'के विषयमें आचार्योंका बहुत कुछ मत-भेद है, जिसका कुछ दिग्दर्शन आगेके पृष्ठोंमें कराया जायगा और इस लिये यहाँपर उसको छोड़ा जाता है। यहाँ सिर्फ इतना ही समझना चाहिये कि इन आचार्य महाशयका शासन इस विषयमें, दूसरे आचार्योंके शासनसे भिन्न है।

(५) पं० **आशाधरजीने**, अपने 'सागारधर्मामृत' में, यद्यपि उन्हीं अष्ट मूलगुणोंका 'स्वमत' रूपसे उल्लेख किया है जिनका सोमदेव आचार्यने प्रतिपादन किया है, और साथ ही समन्तभद्र तथा जिनसेनाचार्योंके मतोंको 'परमत' रूपसे सूचित किया है, तो भी उनका इस विषयमें कोई निश्चित एकमत मालूम नहीं होता। उन्होंने प्रायः सभीको अपनाया और सभीपर अपना हाथ रक्खा है। वे उपर्युक्त (स्वमत-रूपसे प्रतिपादित) मूलगुणोंके नाम और उनकी संख्याका निर्देश करते हुए भी टीकामें लिखते हैं कि 'च' शब्दसे **नवनीत, रात्रि-भोजन, अगालित जल** आदिका भी त्याग करना चाहिये और इससे उक्त 'अष्ट' की संख्यामें बाधा आती है, इसकी कुछ पर्वाह नहीं करते। परन्तु कुछ भी सही, पं० आशाधरजीने, अपने उक्त ग्रंथमें, किसी शास्त्रके आधारपर, जिसका नाम नहीं दिया, एक दूसरे प्रकारके मूलगुणोंका भी उल्लेख किया है जिन्हें मैं यहाँपर उद्धृत करता हूँः—

मद्यपलमधुनिशासनपंचफलीविरतिपंचकाप्तनुती ।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥ २-१८ ॥

मालूम नहीं मूल गुणोंका यह कथन कौनसे आचार्यके मतानुसार लिखा गया है और उनका अथवा उनके ग्रंथका नाम, समंतभद्रादिके

नामके सदृश, क्यों सूचित नहीं किया गया। परंतु इसे छोड़िये, ऊप-रके इस पद्यद्वारा जिन मूलगुणोंका उल्लेख किया गया है उनमेंसे शुरूके पाँच मूलगुण तो वही हैं जो ऊपर 'अमितगति' आचार्यके कथनमें दिखलाये गये हैं। हाँ, उनमें इतनी वात नोट किये जानेकी जरूर है कि यहाँपर पंच उदुम्बरफलोंके समुदायको स्पष्टरूपसे 'पंच-फली' शव्द-द्वारा एक मूलगुण माना गया है और इसलिये इससे मेरे उस कथनकी कि **इन पाँचों उदुम्बरफलोंमें परस्पर ऐसा कोई विशेष भेद नहीं है कि जिससे इनके त्यागको अलग अलग मूलगुण करार दिया जाय,** वहुत कुछ पुष्टि होती है। बाकी रहे तीन गुण **आप्तनुति, जीवदया** और **जलगालन,** ये तीनों यहाँ विशेष रूपसे वर्णन किये गये हैं। इनमें आप्तनुतिसे अभिप्राय परमात्माकी स्तुति अथवा देववंदनाका है। परंतु 'जीवदया' शव्दसे कौनसा क्रिया-विशेप अभिमत है यह कुछ समझमें नहीं आया; वैसे तो मूलगुणोंका यह सारा ही कथन प्रायः जीवदयाकी प्रधानताको लिये हुए है, फिर 'जीवदया' नामका अलग मूलगुण रखनेसे कौनसे आचरणविशेषका ग्रहण किया जाय, यह वात अभी जानने योग्य है। संभव है कि इससे अहिंसाणुव्रतका, अभिप्राय हो। परंतु कुछ भी हो, इतना जरूर कहना पड़ेगा कि यह मत दूसरे आचार्योंके मतोंसे विभिन्न है। पं० आशा-धरजीने भी, इस मतका उल्लेख करते हुए, एक प्रतिज्ञावाक्य-द्वारा इसे दूसरे आचार्योंके मतोंसे विभिन्न वतलाया है। वह वाक्य इस प्रकार है—

"अथ प्रतिपाद्यानुरोधाद्धर्माचार्याणां सूत्राविरोधेन देशना-नानात्वोपलंभाद्भंग्यन्तरेणाष्टमूलगुणानुद्देष्टुमाह।"

इस वाक्यसे यह भी स्पष्ट है कि प्रतिपाद्योंके अनुरोधसे—अर्थात्, जिस समय जैसे जैसे शिष्यों अथवा उपदेशपात्रोंकी बहुलता होती है उस समय उनकी आवश्यकताओं और परिस्थितियोंको लक्ष्य करके—धर्माचार्योंका उपदेश—उनका शासन—भिन्न हुआ करता है। और, इस लिये, इससे मेरे उस कथनका बहुत कुछ समर्थन होता है जिसे मैंने इस लेखके शुरूमें प्रकट किया है। साथ ही, उक्त वाक्यसे यह भी ध्वनित होता है कि धर्माचार्योंकी वह भिन्न देशना **सूत्रोंसे**—सिद्धान्तवाक्योंसे—**अविरुद्ध** होनी चाहिये। तभी वह ग्राह्य हो सकती है, अन्यथा नहीं। यह बिलकुल सत्य है। मेरी रायमें मूलगुणोंका जो कुछ शासन-भेद ऊपर प्रकट किया गया है उसमें परस्पर **सिद्धान्तभेद** नहीं है—जैन सिद्धान्तोंसे कोई विरोध नहीं आता—और न इन भिन्न शासनोंमें जैनाचार्योंका परस्पर कोई **उद्देश्यभेद** ही पाया जाता है। सबोंका उद्देश्य क्रमशः सावद्यकर्मोंको त्याग करानेका मालूम होता है। हाँ, **दृष्टिभेद, अपेक्षाभेद, विषयभेद, संख्याभेद और प्रतिपाद्योंकी स्थिति आदिका भेद** जरूर है जिसके कारण उक्त शासनोंको भिन्न जरूर मानना पड़ेगा। और इस लिये **यह कभी नहीं कहा जा सकता कि महावीर भगवानने ही इन सब भिन्न शासनोंका विधान किया था—उनकी वाणीमें ही ये सब मत इसी रूपसे प्रकट हुए थे**—ऐसा मानना और समझना नितान्त भूल होगा। वास्तवमें **ये सब शासन पापरोगकी शांतिके नुसखे** (Prescriptions) **हैं—औषधिकल्प हैं—जिन्हें आचार्योंने अपने अपने देशों तथा समयोंके शिष्योंकी प्रकृति और योग्यता आदिके अनुसार तय्यार किया है**। और इस लिये सर्वदेशों, सर्वसमयों और सर्व प्रकारकी प्रकृतिके व्यक्तियोंके लिये अमुक एक ही नुसखा

उपयोगी होगा, ऐसा हठ करनेकी जरूरत नहीं है। जिस समय और जिस प्रकारकी प्रकृति आदिके व्यक्तियोंके लिये जैसे ओषधिकल्पोंकी जरूरत होती है, बुद्धिमान वैद्य, उस समय और उस प्रकारकी प्रकृति आदिके व्यक्तियोंके लिये वैसे ही ओषधिकल्पोंका प्रयोग किया करते हैं। अनेक नये नये ओषधिकल्प गढ़े जाते हैं, पुरानोंमें फेरफार किया जाता है और ऐसा करनेमें कुछ भी आपत्ति नहीं होती, यदि वे सब रोगशांतिके विरुद्ध न हों। इसी तरह पर देशकालानुसार किये हुए आचार्योंके उपर्युक्त भिन्न शासनोंमें भी कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। क्यों कि वे सब जैनसिद्धान्तोंसे अविरुद्ध हैं। हाँ, आपेक्षिक दृष्टिसे उन्हें प्रशस्त अप्रशस्त, सुगम दुर्गम, अल्पफलसाधक बहुफल-साधक इत्यादिक जरूर कहा जा सकता है, और इस प्रकारका भेद आचार्योंकी योग्यता और उनके तत्तत्कालीन विचारोंपर निर्भर है। अस्तु; इसी सिद्धान्ताविरोधकी दृष्टिसे यदि आज कोई **महात्मा**, वर्त्तमान देश कालकी स्थितियोंको लक्ष्यमें रखकर, उपर्युक्त मूल गुणोंमें भी कुछ फेर-फार करना चाहे और उदाहरणके तौरपर १ **मांसविरति**, २ **मद्यविरति**, ३ **पंचेंद्रियघातविरति**, ४ **हस्तमैथुनविरति**, ५ **शास्त्राऽध्ययन** ६ **आप्तस्तवन**, ७ **आलोकितपानभोजन**, और ८ **स्ववचनपालन** नामके अष्ट मूलगुण स्थापित करे तो वह खुशीसे ऐसा कर सकता है, उसमें कोई आपत्ति किये जानेकी जरूरत नहीं है; और न यह कहा जा सकता है कि उसका ऐसा विधान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाके विरुद्ध है अथवा महावीर भगवानके शासनसे बाहर है; क्योंकि उक्त प्रकारका विधान जैनसिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं है। **और जो विधान जैनसिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं होता वह सब महावीर भगवानके अनुकूल है।** उसे प्रकारान्तरसे जैनसिद्धान्तोंकी व्याख्या अथवा उनका व्याव-

हारिक रूप समझना चाहिये और इस दृष्टिसे उसे महावीर भगवानका शासन भी कह सकते हैं। परंतु भिन्न शासनोंकी हालतमें **महावीर भगवानने यही कहा, ऐसा ही कहा, इसी क्रमसे कहा, इत्यादिक मानना मिथ्या होगा** और उसे प्रायः मिथ्या-दर्शन समझना चाहिये। अतः उससे बचकर यथार्थ वस्तुस्थितिको जानने और उसपर ध्यान रखनेकी कोशिश करनी चाहिये। इसीमें श्रेय और इसीमें सर्वका कल्याण है।

यह तो हुई दिगम्बर जैनाचार्योंके शासन-भेदकी बात, अब श्वेताम्बराचार्योंके शासन-भेदको लीजिये। श्वेताम्बरग्रंथोंके देखनेसे मालूम होता है कि उन्होंने इस प्रकारके मूलगुणोंका कोई विधान नहीं किया और इसलिये, इस विषयमें, उनका शासनभेद भी कुछ दिखलाया नहीं जा सकता। श्वेताम्बरग्रन्थोंमें मद्यमांसादिकके त्यागरूप उक्त मूलगुणोंका प्रायः सारा कथन '**भोगोपभोगपरिमाण**' नामके दूसरे गुणव्रतमें पाया जाता है। जैसा कि श्रीहेमचंद्राचार्यप्रणीत 'योगशास्त्र' के निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

> **मद्यं मांसं नवनीतं मधूदुम्बरपंचकम्।**
> **अनंतकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनं॥ ३–६॥**
> **आमगोरससंपृक्तं द्विदलं पुष्पितोदनं।**
> **दध्यहर्द्वितीयातीतं कुथितान्नं विवर्जयेत्॥ ३–७॥**

परंतु 'श्रावकप्रज्ञप्ति' नामके मूल ग्रन्थमें, जो **उमास्वाति** आचार्यका बनाया हुआ कहा जाता है, ऐसा कोई कथन नहीं है। अर्थात्, उसके कर्ता आचार्य महाराजने 'भोगोपभोगपरिमाण' नामके गुणव्रतमें उक्त मद्यमांसादिकके त्यागका कोई विधान नहीं किया। हाँ, टीकाकारने उक्त गुणव्रतधारी श्रावकके लिये निरवद्य (निर्दोष) आहा-

रका विधान जरूर किया है। साथ ही, 'वृद्धसंप्रदाय' रूपसे कुछ प्राकृत गद्य भी उद्धृत किया है जिसमें उक्त व्रतोंके मद्य-मांसादिक और पंचोदुम्बरादिकके त्यागकी सूचना पाई जाती है। परंतु 'वृद्धसंप्रदाय'से अभिप्राय कौनसे संप्रदाय-विशेषसे है यह कुछ मालूम नहीं हुआ। श्रावकधर्मके प्रतिपादन-विषयमें, श्वेताम्बरसम्प्रदायका सबसे प्राचीन ग्रंथ '**उवासगदसाओ**' (उपासक-दशा) सूत्र है, जिसे 'उपासकाध्ययन' तथा द्वादशांगवाणीका '**सप्तम अंग**' भी कहते हैं और जो महावीर भगवानके साक्षात् शिष्य '**सुधर्मास्वामी**' गणधरका बनाया हुआ कहा जाता है। इस ग्रंथमें भी, उक्त गुणव्रतका कथन करते हुए, मद्य-मांसादिकके त्यागका स्पष्ट रूपसे कोई विधान नहीं किया गया। श्रावकधर्म-विषयक उनके इस सर्वप्रधान ग्रन्थमें, कथाओंको छोड़कर, श्रावकीय बारह व्रतोंके प्रायः अतीचारोंका ही वर्णन पाया जाता है, व्रतोंके स्वरूपादिकका और कुछ भी विशेष वर्णन नहीं है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि इस ग्रंथमें श्रावकधर्मका पूरा विधिविधान नहीं है। इसीसे शायद 'श्रावकप्रज्ञप्ति' के टीकाकार श्री**हरिभद्रसूरि**ने, श्रावकोंके लिये निरवद्य आहारादिकका विधान करते हुए, यह सूचित किया है कि 'सूत्रमें (उपासक दशामें) देशविरतिके सम्बंधमें नियमित रूपसे '**इदमेव इदमेव**' ऐसा कोई कथन नहीं है, क्योंकि वहाँ सिर्फ अतिचारोंका उल्लेख किया गया है। इस लिये देशविरतिकी विधि विचित्र है और उसे अपनी बुद्धिसे पूरा करना चाहिए।' हरिभद्रसूरिके वे वाक्य इस प्रकार हैं:—

"विचित्रत्वाच्च देशविरतेश्चित्रोऽत्रापवादः इत्यत एवेदमेवेदमेवेति वा सूत्रे न नियमितमतिचाराभिधानाच्च विचित्रस्तद्विधिः स्वधियावसेय इति।"

इन वाक्योंसे यह भी भले प्रकार स्पष्ट है कि श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें **'उपासकदशा' सूत्रसे बाहर श्रावकधर्मका जो कुछ भी विशेष कथन पाया जाता है वह सब पीछेसे आचार्योंद्वारा अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार निर्धारित तथा पल्लवित किया हुआ कथन है।** और इस लिये उसे भी सिद्धान्ताविरोधकी दृष्टिसे ही ग्रहण करना चाहिए और उसमें भी देश-कालानुसार यथोचित फेरफार किया जा सकता है। यहाँपर यह बात बड़ी ही विचित्र माळूम होती है कि श्वेताम्बर आचार्योंने, मद्यमांसादिकके त्यागका यदि विधान किया भी है तो वह दूसरे गुणव्रतमें जाकर किया है। और इस लिये इससे पहली अवस्थाओंवाले श्रावकों—अहिंसादिक अणुव्रतोंके पालने वालों—अथवा व्यावहारिक दृष्टिसे जैनीमात्रके लिये उनके सेवनका कोई निषेध नहीं है। ऐसा क्यों किया गया? क्यों श्रावकमात्र अथवा जैनगृहस्थमात्रके लिये मद्यमांसादिकके त्यागका नियम नहीं रक्खा गया? और उनके त्यागको मूलगुण नहीं बनाया गया? जब सकलविरतियोंके लिये मूलोत्तरगुणोंकी व्यवस्था है तब देशविरतियोंके लिये वह क्यों नहीं रक्खी गई? क्यों ऐसा कमसे कम आचरण निर्दिष्ट नहीं किया गया जिसका पालन करना सबके लिये—जैनीमात्रके लिये—जरूरी हो और जिसके पालनके बिना कोई भी 'जैनी' अथवा 'महावीरभगवानका उपासक' ही न कहला सकता हो? ये सब बातें ऐसी हैं जिनपर विचार किये जानेकी जरूरत है। संभव है कि ऐसा करनेमें श्वेताम्बर आचार्योंका कुछ उद्देश्यभेद हो। बन्धनोंको ढीला रखकर, बौद्धोंके सदृश समाज-वृद्धिका उनका आशय हो। परन्तु कुछ भी हो, इस विषयमें, निश्चित रूपसे, अभी मैं कुछ कह नहीं सकता। अवसर मिलनेपर, इस सम्बन्धमें अपने विशेष विचार फिर किसी समय प्रकट किये जायँगे।

अणुव्रत और रात्रिभोजनविरति

जैनधर्ममें, हिंसादिक पापोंकी देशतः निवृत्ति (स्थूलरूपसे त्याग) का नाम 'अणुव्रत' और उसकी प्रायः सर्वतः निवृत्तिका नाम 'महाव्रत' है। व्रतोंकी ये अणु और महत् संज्ञाएँ परस्पर सापेक्षिक हैं। वास्तवमें, सर्वसावद्ययोगकी निवृत्तिको 'व्रत' कहते हैं। वह निवृत्ति एकदेश होनेसे 'अणुव्रत' और सर्वदेश होनेसे 'महाव्रत' कहलाती है। गृहस्थ लोग समस्त सावद्ययोगका—हिंसाकर्मोंका—पूरी तौरसे त्याग नहीं कर सकते इस लिये उनके लिये आचार्योंने अणुरूपसे कुछ व्रतोंका विधान किया है, जिनकी संख्या और विषय-संबंधमें कुछ आचार्योंके परस्पर मत-भेद है। उसी मत-भेदको स्थूलरूपसे दिखलानेका अब यत्न किया जाता है। साथ ही, रात्रिभोजनविरतिके सम्बन्धमें जो आचार्योंका शासनभेद है उसे भी कुछ दिखलानेकी चेष्टा की जायगी:—

स्वामीसमन्तभद्राचार्यने रत्नकरंडश्रावकाचारमें, कुन्दकुन्दमुनिराजने चारित्रपाहुड़में, उमास्वातिमुनीन्द्रने तत्त्वार्थसूत्रमें, सोमदेवसूरिने यशस्तिलकमें, वसुनन्दीआचार्यने श्रावकाचारमें, अमितगतिमुनिने उपासकाचारमें और श्वेताम्बराचार्य हेमचंद्रने योगशास्त्रमें अणुव्रतोंकी संख्या पाँच दी है जिनके नाम प्रायः इस प्रकार हैं:—

१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अचौर्य, ४ ब्रह्मचर्य ५ परिग्रहपरिमाण। ये पाँचों व्रत अपने प्रतिपक्षी स्थूल हिंसादिक पापोंसे विरतिरूप वर्णन किये गये हैं। यह दूसरी बात है कि किसी किसी ग्रंथमें इनका दूसरे पर्यायनामोंसे उल्लेख किया गया है, परंतु नामविषयक आशय सबका एक है, इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। श्वेताम्बरोंके 'उपासकदशा'

सूत्रमें भी इन्हींका उल्लेख है और उनका 'श्रावकप्रज्ञप्ति' नामका ग्रंथ भी इन्हींका विधान करता है। इन व्रतोंकी संख्याके विषयमें श्रीकुन्द-कुन्दाचार्य लिखते हैं कि '**पंचेवणुव्वयाइं**' (पंचैव अणुव्रतानि) —अर्थात्, अणुव्रत पाँच ही हैं। **वसुनन्दी** आचार्य भी अपने श्राव-काचारमें यही वाक्य देते हैं। **सोमदेव**ने इसका संस्कृतानुवाद दिया है और श्रावकप्रज्ञप्तिमें भी यही (**पंचेवणुव्वयाइं**) वाक्य ज्योंका त्यों पाया जाता है। श्रावकप्रज्ञप्तिके टीकाकार **श्रीहरिभद्रसूरि** इस वाक्यपर लिखते हैं—

"पंचेति संख्या। एवकारोऽवधारणे। पंचैव न चत्वारि षड्वा।"

अर्थात्—पाँचकी संख्याके साथ 'एव' शब्द अवधारण अर्थमें है जिसका आशय यह है कि अणुव्रत पाँच ही हैं, चार अथवा छह नहीं हैं।

इस तरहपर बहुतसे आचार्योंने अणुव्रतोंकी संख्या सिर्फ पाँच दी है और उक्त पाँचों ही व्रतोंको अणुव्रत रूपसे वर्णन किया है। परंतु समाजमें कुछ ऐसे आचार्य तथा विद्वान् भी हो गये हैं जिन्होंने उक्त पाँच व्रतोंको ही अणुव्रत रूपसे स्वीकार नहीं किया, बल्कि '**रात्रिभो-जनविरति**' नामके एक छठे अणुव्रतका भी विधान किया है। जैसा कि नीचे लिखे कुछ प्रमाणोंसे प्रकट है—

क—"अस्य (अणुव्रतस्य) पंचधात्वं बहुमतादिष्यते
क्वचित्तु रात्र्यभोजनमपि अणुव्रतमुच्यते। तथा भवति।"

—सागारधर्मामृतटीका।

इन वाक्योंद्वारा पं० **अशाधरजी**ने, जो १३ वीं शताब्दीके विद्वान् हैं, यह सूचित किया है कि 'अणुव्रतोंकी यह पंच संख्या बहुमतकी अपेक्षासे है। कुछ आचार्योंके मतसे 'रात्रिभोजनविरति' भी एक अणु-व्रत है, सो वह अणुव्रत ठीक ही है।'

ख—व्रतत्राणाय कर्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम् ।
सर्वथान्नान्निवृत्तेस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम् ॥ ५–७० ॥
—आचारसारः ।

यह वाक्य श्रीवीरनन्दी आचार्यका है, जो आजसे आठसौ वर्ष पहले, विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें, हो गये हैं। इसमें कहा गया है कि '(मुनिको) अहिंसादिक व्रतोंकी रक्षाके लिये सर्वथा रात्रिभोजनका त्याग करना चाहिये और अन्नकी निवृत्तिसे वह रात्रिभोजनका त्याग छठा अणुव्रत कहा जाता है, अथवा कहा गया है।'

ग—"रात्रावन्नपानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्यः सत्वानुकंपया विरमणं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतम् ।"
"वधादसत्याच्चौर्याच्चकामाद्ग्रंथान्निवर्त्तनम् ।
पंचधाणुव्रतं रात्र्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम् ॥"
—चारित्रसारः ।

ये वचन श्रीनेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य चामुण्डरायके हैं, जो आजसे लगभग एक हजार वर्ष पहले, विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके शुरूमें, हो गये हैं। इन वचनोंद्वारा स्पष्टरूपसे यह वतलाया गया है कि रात्रिभोजनत्यागको छठा अणुव्रत कहते हैं और यह उन पंच प्रकारके अणुव्रतोंसे भिन्न है जो हिंसाविरति आदि नामोंसे कहे गये हैं। यहाँपर इतना विशेप और है कि वीरनन्दी आचार्यने तो अन्नसे निवृत्त होनेको छठा अणुव्रत वतलाया है परंतु चामुंडराय अन्न, पान, खाद्य और लेह्य, ऐसे चारों प्रकारके आहारके त्यागको छठा अणुव्रत प्रतिपादन करते हैं। दोनों विद्वानोंके कथनोंमें यह परस्पर भेद क्यों? इसमें जरूर कोई गुप्त रहस्य जान पड़ता है। जव महाव्रती मुनियोंको भी रात्रि-

भोजनके त्यागका व्रतोंसे पृथक्रूप उपदेश दिया गया है और उनसे भोजनका सर्वथा त्याग—चारों प्रकारके आहारका त्याग—कराया गया है तब अणुव्रती गृहस्थोंको—खासकर व्रतप्रतिमाधारी श्रावकोंको—इस विषयमें उनके बिल्कुल समकक्ष रखना—उनसे भी बराबरका त्याग कराना—कहाँ तक न्याय्य है, और इससे अणुव्रत और महाव्रतके त्यागमें परस्पर कुछ विशेषता रहती है या कि नहीं, यह बात हृदयमें जरूर खटकती है।

प्रायः ऐसा मालूम होता है कि जिन विद्वानोंने श्रावककी छठी प्रतिमाको **दिवामैथुनत्यागरूपसे** वर्णन किया है—रात्रिभोजनत्यागरूपसे नहीं—उन्होंने दूसरी व्रतप्रतिमामें या उससे भी पहले रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग करा दिया है। और जिन्होंने छठी प्रतिमाको **रात्रिभोजन-त्यागरूपसे** प्रतिपादन किया है उन विद्वानोंने या तो रात्रिभोजन-त्यागका उससे पहले अपने ग्रंथमें उपदेश ही नहीं दिया और या उसका कुछ मोटे रूपसे त्याग कराया है। यहाँपर दोनोंके कुछ उदाहरण पाठकोंके सामने रक्खे जाते हैं जिससे रात्रिभोजनत्याग-विषयमें आचार्योंका मत-भेद और भी स्पष्टताके साथ उन्हें व्यक्त हो जायः—

१ **वसुनन्दी** आचार्यने, अपने श्रावकाचारमें, छठी प्रतिमा 'दिवा-मैथुनत्याग' (दिनमें मैथुन नहीं करना) करार दी है और रात्रिभोजनका त्याग आप पहली प्रतिमावालेके वास्ते आवश्यक ठहराते हैं। आपने लिखा है कि 'रात्रिभोजनका करनेवाला ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे पहली प्रतिमाका धारक भी नहीं हो सकता।' यथाः—

एयादसेसु पढमं वि जदो णिसिभोयणं कुणंतस्स।
ठाणं ण ठाइ तम्हा णिसिभुत्तं परिहरे णियमा॥ ३१४॥

२ अमितगति आचार्यने भी, अपने उपासकाचारमें, छठी प्रतिमाको 'दिवामैथुनत्याग' वर्णन किया है और वे रात्रिभोजनत्यागका विधान व्रतोंके उपदेशसे भी पहले करते हैं, जिससे मालूम होता है कि वे पाक्षिक तथा दर्शनिक श्रावकके लिये उसका नियम करते हैं; जैसा कि पहले अष्टमूलगुण-संबंधी लेखमें प्रकट किया गया है।

३ पं० वामदेव भी, अपने 'भावसंग्रह' में, दर्शनिक श्रावक अर्थात् पहली प्रतिमाधारकके लिये रात्रिभोजनका त्याग आवश्यक बतलाते हैं यथा:—

दर्शनिकः प्रकुर्वीत रात्रिभोजनवर्जनम् ।

४ पं० आशाधरजीका भी मत छठी प्रतिमाके विषयमें 'दिवा-मैथुनत्याग' का है। उन्होंने अपने सागारधर्मामृतमें रात्रिभोजनके त्यागका विधान पाक्षिक श्रावकसे प्रारंभ किया है और उसे क्रमसे बढ़ाया है। पाक्षिक श्रावकसे सामान्यतया भोजनका—अन्नका—त्याग कराकर दर्शनिक श्रावकके त्यागमें कुछ विशेषता की है—उसके लिये दिनके प्रथम मुहूर्त्त और अन्तिम मुहूर्त्तमें भी भोजनका निषेध किया है, और साथ ही, रोगनिवृत्ति तथा स्वास्थ्यरक्षाके लिये रात्रिको जल-फल-घृत-दुग्धादिकका सेवन भी दूषित ठहराया है—और अन्तमें फिर व्रतिक श्रावकसे चारों प्रकारके भोजनका सदाके लिये त्याग कराकर इस रात्रिभोजनके कथनको पूरा किया है।

५ श्रीचामुंडराय भी इसी प्रकारके विद्वानोंमें हुए हैं। उन्होंने भी चारित्रसारमें छठी प्रतिमा 'दिवामैथुनत्याग' स्थापित की है। और इसलिये वे दूसरी प्रतिमामें ही पूरी तौरसे रात्रिभोजनके त्यागका विधान करते हैं। उनके वे विधिवाक्य ऊपर उद्धृत किये जा चुके हैं।

ये तो हुए प्रथम प्रकारके विद्वानोंके उदाहरण, अब दूसरे प्रकारके विद्वानोंके भी कुछ उदाहरण, लीजिये:—

६ स्वामीसमन्तभद्राचार्यने, रत्नकरंडकमें 'रात्रिभोजनविरति' को छठी प्रतिमा बतलाया है, और उससे पहले ग्रंथभरमें कहीं भी रात्रिभोजनके त्यागका विधान नहीं किया है। वे चारों प्रकारके आहारका इसी प्रतिमामें त्याग कराते हैं। यथा:—

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्वेष्वनुकम्पमानमनाः॥

७ ब्रह्मनेमिदत्तने भी अपने 'धर्मोपदेशपीयूषवर्ष' नामके श्रावकाचारमें, समन्तभद्रके सदृश 'रात्रिभोजनविरति' को ही छठी प्रतिमा करार दिया है और उसी तरहपर चारों प्रकारके आहारका उसमें त्याग कराया है। यथा:—

अन्नं पानं तथा खाद्यं लेह्यं रात्रौ हि सर्वदा।
नैव भुंक्ते पवित्रात्मा स षष्ठः श्रावको मतः॥

परंतु नेमिदत्तने इससे पहले भी अपने ग्रंथमें रात्रिभोजनका कुछ त्याग कराया है। लिखा है कि 'रात्रिमें यदि सामान्यतया जल, ताम्बूल और औषधका ग्रहण करते हो तो करो परन्तु फलादिकको ग्रहण न करना चाहिये' और इसके समर्थनमें एक प्राकृत वाक्य भी दिया है। यथा:—

"सामान्यतो निशायां च जलं ताम्बूलमौषधं।
गृह्णन्ति चैव गृह्णन्तु नैव ग्राह्यं फलादिकं॥
यदुक्तं। तम्बोलो सहु जलमुइवि, जो अंथविए सूरि।
भोग्गासणि फल अहिलसइ, ते किउ दंसणु दूरि॥"

कविराजमल्ल भी इसी प्रकारके विद्वानोंमें हुए हैं। उन्होंने 'लाटीसंहिता' नामक अपने श्रावकाचारमें 'रात्रिभोजनविरति' को छठी प्रतिमा करार देकर, यद्यपि रात्रिभोजनका सर्वांगत्याग उसीमें कराया है परन्तु पहली प्रतिमामें भी उसके एकदेश त्यागका विधान किया है— जिसे आप 'दिग्मात्र' त्याग वतलाते है—और लिखा है कि 'पहली प्रतिमामें रात्रिको अन्नमात्रादि स्थूल भोजनका निषेध है किन्तु जलादिकके पीने और ताम्बूलादिकके खानेका निषेध नहीं है। इनका तथा औषधादिकके लेनेका सर्वथा निषेध छठी प्रतिमामें होता है।' यथाः—

ननु रात्रिभुक्तिस्त्यागो नात्रोद्देश्यस्त्वया क्वचित्।
षष्ठसंज्ञिकविख्यातप्रतिमायामास्ते यतः॥ ४१॥
सत्यं सर्वात्मना तत्र निशाभोजनवर्जनं।
हेतोः किंत्वत्र दिग्मात्रं सिद्धं स्वानुभवागमात्॥ ४२॥
अस्ति कश्चिद्विशेषोऽत्र स्वल्पाभासोऽर्थतो महान्।
सातिचारोऽत्र दिग्मात्रे तत्रातीचारवर्जितः॥ ४३॥
निषिद्धमन्नमात्रादिस्थूलभोज्यं व्रते दृशः।
न निषिद्धं जलाद्यत्र ताम्बूलाद्यपि वा निशि॥ ४४॥
तत्र ताम्बूलतोयादि निषिद्धं यावदंजसा।
प्राणान्तेपि न भोक्तव्यमौषधादि मनीषिणा॥ ४५॥

—द्वितीयः सर्गः।

वीरनन्दी आचार्यका श्रावकाचार-विषयक कोई ग्रंथ मुझे उपलब्ध नहीं हुआ। परन्तु चूँकि आपने, रात्रिभोजनके त्यागमें, सिर्फ अन्नकी निवृत्तिसे ही छठे अणुव्रतका होना सूचित किया है इसलिये आप इस द्वितीयवर्गके ही विद्वान् माल्लम होते हैं और संभवतः यही वजह है कि

आपके और चामुंडरायके छठे अणुव्रतके स्वरूपकथनमें परस्पर भेद पाया जाता है। यदि ऐसा नहीं है—अर्थात्, वीरनन्दी प्रथम वर्गके विद्वानोंमें शामिल हैं—तो कहना होगा कि आपके उपर्युल्लिखित पद्यमें 'अन्नात्' पद उपलक्षण है और इसलिये उसकी निवृत्तिसे छठे अणुव्रतमें रात्रिके समय अन्न, पान खाद्यादिक सभी प्रकारके आहारका त्याग कराया गया है। ऐसी हालतमें फिर महाव्रत और अणुव्रतके त्यागमें कोई विशेषता नहीं रहेगी। परंतु विशेषता रहो अथवा मत रहो, और वीरनन्दी प्रथम वर्गके विद्वान् हों अथवा दूसरे वर्गके, पर इसमें सन्देह नहीं कि ऊपरके **इन सब अवतरणोंसे रात्रिभोजन-विषयक आचार्योंका शासनभेद बहुत कुछ व्यक्त हो जाता है और साथ ही छठी प्रतिमाका नाम और स्वरूपसंबन्धी कुछ मतभेद भी** पाठकोंके सामने आ जाता है। अस्तु।

अब मैं फिर अपने उसी छठे अणुव्रतपर आता हूँ, और देखता हूँ कि उसका कथन कितना पुराना है—

घ—विक्रमकी १० वीं शताब्दीके विद्वान् **श्रीदेवसेन** आचार्य, अपने 'दर्शनसार' नामक ग्रंथमें, कुमारसेन नामके एक मुनिके द्वारा विक्रमराजाकी मृत्युसे ७५३ वर्षबाद काष्ठासंघकी उत्पत्तिका वर्णन करते हुए, लिखते हैं कि **कुमारसेन**ने छठे अणुव्रतका (**छट्ठं च अणुव्वदं णाम**) विधान किया है। इससे माल्म होता है कि रात्रिभोजनत्याग नामका छठा अणुव्रत आजसे बारहसौ वर्षसे भी अधिक समय पहले माना जाता था। परंतु इस कथनसे किसीको यह नहीं समझ लेना चाहिये कि कुमारसेन नामके आचार्यने ही इस अणुव्रतकी ईजाद की है—उन्होंने ही सबसे पहले इसका उपदेश दिया है। ऐसा नहीं है।

उनसे पहले भी कुछ आचार्योंद्वारा यह अणुव्रत माना जाता था; जैसा कि, इस लेखमें, इसके बाद ही दिखलाया जायगा और इसलिये कुमारसेनके द्वारा इस व्रतके विधानका सिर्फ इतना ही आशय लेना चाहिये कि उन्होंने इसे अपने सिद्धान्तोंमें स्वीकार किया था।

ङ—श्रीपूज्यपाद स्वामीने, अपने 'सर्वार्थसिद्धि' नामक ग्रंथके सातवें अध्यायमें, प्रथम सूत्रकी व्याख्या करते हुए, '**रात्रिभोजनविरमण**' नामके छठे अणुव्रतका उल्लेख इस प्रकारसे किया है:—

"ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यं। न भावनास्वन्तर्भावात्। अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यंते। तत्र आलोकितपानभोजनभावना कार्येति।"

इससे मालूम होता है कि श्रीपूज्यपादके समयमें, जिनका अस्तित्वकाल विक्रमकी छठी शताब्दीका प्रायः पूर्वार्ध* माना जाता है, रात्रिभोजनविरमण नामका छठा अणुव्रत प्रचलित था।

परन्तु चूँकि **उमास्वाति** आचार्यने तत्त्वार्थसूत्रमें इस छठे अणुव्रतका विधान नहीं किया इसलिये, आचार्य पूज्यपादने अपने ग्रंथमें इसका एक विकल्प उठाकर—अर्थात्, यह प्रश्न खड़ा करके कि 'जब रात्रिभोजनविरमण नामका छठा अणुव्रत भी है तब यहाँ व्रतोंके प्रतिपादक इस सूत्रमें उसका भी सम्मेलन और परिगणन

---

* देवसेनाचार्यने 'दर्शनसार' ग्रंथमें लिखा है कि श्रीपूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दीके द्वारा वि० सं० ५२६ में द्राविड़संघकी उत्पत्ति हुई है। पूज्यपादस्वामी गंगराजा 'दुर्विनीत' के समयमें हुए हैं। दुर्विनीत राजा उनका शिष्य था, जिसका राज्यकाल ई० सन् ४८२ से ५२२ तक कहा जाता है। इससे पूज्यपादका उक्त समय प्रायः ठीक मालूम होता है।

होना चाहिये था'. उत्तरमें बतलाया है कि 'इस व्रतका अहिंसाव्रतकी **आलोकितपानभोजन** नामकी भावनामें अंतर्भाव है' इसलिये यहाँ पृथक रूपसे कहने और गिननेकी जरूरत नहीं हुई। और इस तरहपर उक्त प्रश्नके उत्तरकी भरपाई करके सूत्रकी अनुपपत्ति अथवा त्रुटिका परिहार किया है। यद्यपि इस कथनसे आचार्यमहोदयका छठे अणुव्रतके विषयमें कोई विरुद्ध मत मालूम नहीं होता—बल्कि कथन-शैलीसे उनकी इस विषयमें प्रायः अनुकूलता ही पाई जाती है—तो भी प्रायः मूल ग्रंथके अनुरोधादिसे उस समय उन्होंने उक्त प्रकारका उत्तर देना ही उचित समझा ऐसा जान पड़ता है। **अकलंकदेवने** भी, अपने राज-वार्तिकमें पूज्यपादके वाक्योंका प्रायः अनुसरण और उद्धरण करते हुए, रात्रिभोजनविरतिको छठा अणुव्रत प्रकट किया है (**तदपि षष्ठमणुव्रतं**) और उसके विषयमें वे ही विकल्प उठाकर उसे आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें अन्तर्भूत किया है *। साथ ही, आलोकितपानभो-जनमें प्रदीपादिके विकल्पोंको उठाकर और नानारंभदोषादिकके द्वारा उनका समाधान करके कुछ विशेष कथन भी किया है। परन्तु वस्तुतः रात्रिभोजनविरति नामके छठे अणुव्रतका आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें अन्तर्भाव होता है या नहीं, यह बात अभी विचारणीय है। और इसके लिये सबसे पहले हमें अहिंसाणुव्रतका स्वरूप देखना चाहिये। अर्थात्, यह मालूम करना चाहिये कि अहिंसाणुव्रतके धारकके वास्ते कितनी और किसप्रकारकी हिंसाके त्यागका विधान किया गया है। यदि अहिंसा अणुव्रतके स्वरूपमें—अहिंसा महाव्रतके स्वरूपमें नहीं—रात्रिभोजनका त्याग नियमसे

---

* यथाः—स्यान्मतमिह रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानं कर्तव्यं तदपि षष्ठमणुव्रतमिति। तन्न। किं कारणं भावनान्तर्भावात्।

—राजवार्तिकम्।

आजाता है तब तो उसकी भावनामें भी उसका समावेश हो सकता है और यदि मूल अहिंसा अणुव्रतके स्वरूपमें ही रात्रिभोजनका त्याग नहीं बनता—लाज़मी नहीं आता—तब फिर उसकी भावनामें ही उसका समावेश कैसे हो सकता है। क्योंकि भावनाएँ व्रतोंकी स्थिरताके लिये कही गई हैं। जो बात मूलमें ही नहीं उसकी फिर स्थिरता ही क्या की जा सकती है? अतः सबसे पहले हमें अहिंसाणुव्रतके स्वरूपको सामने रखना चाहिये और तब उसपरसे विचार करना चाहिये कि उसकी आलोकितपानभोजन (देखकर खानापीना) नामकी भावनामें रात्रिभोजनविरतिका अन्तर्भाव होता है या नहीं। अहिंसाणुव्रतका स्वरूप स्वामीसमंतभद्राचार्यने इसप्रकार बतलाया है—

संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः॥

इस स्वरूपमें अणुव्रतीके लिये स्थूलरूपसे त्रसजीवोंकी सिर्फ **संकल्पी** हिंसाके त्यागका विधान किया गया है। **आरंभी*** और **विरोधी** हिंसाका वह प्रायः त्यागी नहीं होता। श्री**हेमचंद्राचार्य** भी अपने योगशास्त्रमें '**निरागस्त्रसजंतूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत्**' इस वाक्यके द्वारा संकल्पसे निरपराधी त्रस जीवोंकी हिंसाके त्यागका विधान करते हैं। रात्रिभोजनमें दिनकी अपेक्षा हिंसाकी अधिक संभावना जरूर है परन्तु वह उक्त संकल्पी हिंसा नहीं होती जिसके त्यागका व्रती श्रावकके लिये नियम किया गया है और

* गृहवाससेवनरतो मंदकषायप्रवर्तितारंभः।
आरंभजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतम्॥ ६—७॥
—उपासकाचारे, अमितगतिः।

इसलिये अहिंसाणुव्रतकी प्रतिज्ञामें रात्रिभोजनका त्याग नहीं आता। उसके लिये जुदा ही नियमादिक करनेकी जरूरत होती है। इसी लिये गृहस्थोंको रात्रिभोजनके त्यागका पृथक् उपदेश दिया गया है। कुछ आचार्योंने अहिंसाणुव्रतके बाद, कुछने पाँचों अणुव्रतोंके बाद, कुछने भोगोपभोगपरिमाण नामके गुणव्रतमें और कुछने अणुव्रतोंके कथनसे भी पहले इसका वर्णन किया है। और अनेक आचार्योंने स्पष्ट तौरपर इसे छठा अणुव्रत ही करार दिया है जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है। अतः यह एक पृथक् व्रत जान पड़ता है और उक्त आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें इसका अन्तर्भाव नहीं होता। हाँ, महाव्रतियोंके त्यागकी दृष्टिसे, जिसमें सब प्रकारकी हिंसाको छोड़ा जाता है और गोचरीके भी कुछ विशेष नियम हैं, आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें रात्रिभोजनके त्यागका समावेश जरूर हो सकता है। और संभवतः इसीपर लक्ष्य रखते हुए श्रीपूज्यपाद और अकलंकदेवने अपने अपने ग्रंथोंमें उक्त प्रकारके उत्तरका विधान किया जान पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि विकल्पको उठाकर उसका उत्तर देते समय उनकी दृष्टि अहिंसाणुव्रतके स्वरूपपर नहीं पहुँची—उनके सामने उस समय अहिंसा महाव्रतके स्वरूपका नकशा और मुनियोंके चरित्रका चित्र ही रहा है, और इस लिये, उन्होंने उसीके ध्यानमें रात्रिभोजनविरमण नामके छठे अणुव्रतको अहिंसाव्रतकी आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें अन्तर्भूत कर दिया है। मेरा यह खयाल और भी दृढ होता है जब मैं राजवार्तिकमें उन विशेष विकल्पोंके उत्तर-प्रत्युत्तरोंको देखता हूँ जो आलोकितपानभोजनके सम्बन्धमें उठाए गये हैं; वे सब मुनियोंसे ही सम्बंध रखते हैं। जैसे कि, दीपादिकके प्रकाशमें देखभालकर रात्रिको भोजनपानकरनेमें जो आरंभ दोष होता है उसे यदि परकृतप्रदीपादि हेतुसे हटाया भी जाय तो भी भोजनके

वास्ते मुनियोंका रात्रिको विहारादिक नहीं वन सकता; क्योंकि आचार-शास्त्रका ऐसा उपदेश है:—

" ज्ञानाऽऽदित्यस्वेंद्रियप्रकाशपरीक्षितमार्गेण युगमात्रपूर्वापेक्षी देशकाले पर्यट्य यतिः भिक्षां शुद्धामुपादीयते इत्याचारोपदेशः ।"

आचारशास्त्रकी यह विधि रात्रिको नहीं वन सकती—इसके लिये आदित्य (सूर्य) के प्रकाशकी खास जरूरत है । अतः परकृतप्रदीपादिके कारण आरंभदोप न होते हुए भी, विहारादिक न वन सकनेसे, मुनियोंके रात्रिको भोजन नहीं वनता । इसी तरहपर आगे और भी, दिनको भोजन लाकर उसे रात्रिको खाने आदिके विकल्प उठाए गये हैं और उनका फिर मुनियोंके सम्बन्धमें ही परिहार किया गया है, जिन सवसे यह विल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि **मुनिधर्मको लक्ष्य करके ही रात्रिभोजनविरमणका आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें अन्तर्भाव किया गया है; श्रावकधर्म अथवा उक्त छठे अणुव्रतको लक्ष्य करके नहीं** । वास्तवमें अहिंसादिक व्रतोंकी पाँच पाँच भावनाएँ भी प्रायः मुनियोंको—महाव्रतियोंको—लक्ष्य करके ही कही गई हैं; जैसा कि शास्त्रोंमें दिये हुए **ईर्यासमिति, भैक्ष्यशुद्धि, शून्यागारावास** आदि उनके नामों तथा स्वरूपसे प्रकट है और जिनके विपयमें यहाँ विशेप लिखनेकी जरूरत नहीं है । महाव्रतोंकी अस्थिरतामें मुनियोंके एक भी उत्तरगुण नहीं वन सकता, अतः व्रतोंकी स्थिरता संपादन करनेके लिये ही मुनियोंके वास्ते इन सव भावनाओंका खास तौरसे विधान किया गया है, जैसा कि 'श्लोकवार्तिक' में श्री**विद्यानंद** आचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

तत्स्थैर्यार्थं विधातव्या भावना पंच पंच तु ।
तदस्थैर्ये यतीनां हि संभाव्यो नोत्तरो गुणः ॥

अणुव्रती श्रावकके लिये इन भावनाओंमेंसे आलोकितपानभोजन नामकी भावनाका प्रायः इतना ही आशय हो सकता है कि, मोटे रूपसे अच्छी तरह देख भालकर भोजनपान किया जाय—वैसे ही विना देखे भाले अन्धेरे आदिमें अनापशनाप भोजन न किया जाय। इससे अधिक, रात्रिभोजनके त्यागका अर्थ उससे नहीं लिया जा सकता। उसके लिये जुदा प्रतिज्ञा करनी होती है। यह भावना है, इसे व्रत अथवा प्रतिज्ञा नहीं कह सकते। व्रत कहते हैं 'अभिसंधिकृत नियम' को—अर्थात, यह काम मुझे करना है अथवा यह काम मैं नहीं करूँगा, इस प्रकारके नियमविशेषको; और भावना नाम है 'पुनः पुनः संचिन्तन और समीहन' का। आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें इस प्रकारका चिन्तन और समीहन किया जाता है कि 'मेरे अहिंसा-व्रतकी शुद्धिके लिये देख भालकर भोजन हुआ करे।' इससे पाठक समझ सकते हैं कि यह चिन्तन और समीहन कहाँ तक उस रात्रि-भोजनविरति नामके व्रत अथवा अणुव्रतकी कोटिमें आता है, जिसमें इस प्रकारका नियम किया जाता है कि मैं रात्रिको अमुक अमुक प्रकारके आहारका सेवन नहीं करूँगा। अस्तु; यहाँ मैं अपने पाठकों-पर इतना और प्रकट किये देता हूं कि श्री**विद्यानंद** आचार्यने, अपने 'श्लोकवार्तिक' के इसी प्रकरणमें, छठे अणुव्रतका उल्लेख नहीं किया है; बल्कि रात्रिभोजनविरतिको अहिंसादिक पाँचों व्रतोंके अनन्तर ही अस्तित्व रखनेवाला एक पृथक व्रत सूचित करते हुए उसे उक्त प्रकारके प्रश्नों तथा विकल्पोंके साथ, आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें अंतर्भूत किया है। जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"ननु पंचसु व्रतेष्वनंतर्भावादिह रात्रिभोजनविरत्युपसंख्या-मिति चेन्न, भावनान्तर्भावात्। तत्रानिर्देशादयुक्तोऽन्तर्भाव इति चेन्न, आलोकितपानभोजनस्य वचनात्।"

इससे मालुम होता है कि विद्यानन्द आचार्यकी दृष्टि श्रीपूज्यपाद और अकलंकदेवकी उस सदोष उक्ति पर पहुँची है, जिसके द्वारा उन्होंने उक्त छठे अणुव्रतको आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें अंतर्भूत किया था; और इस लिये उन्होंने उसका उपर्युक्त प्रकारसे संशोधन करके कथनके पूर्वापर संबंधको एक प्रकारसे ठीक किया है। वास्तवमें वार्तिककारोंका काम भी प्रायः यही होता है। वे, अपनी समझ और शक्तिके अनुसार, **उक्त**, **अनुक्त**, और **दुरुक्त** तीनों प्रकारके अर्थोंकी चिन्ता, विचारणा और अभिव्यक्ति किया करते हैं। **उक्तार्थोंमें** जो उपयोगी और ठीक होते हैं उनका संग्रह करते हैं, शेषको छोड़ते हैं; **अनुक्तार्थोंको** अपनी ओरसे मिलाते हैं और **दुरुक्तार्थोंका** संशोधन करते हैं—जैसा कि श्रीहेमचंद्राचार्य-प्रतिपादित 'वार्तिक' के निम्न लक्षणसे प्रकट है:—

"उक्तानुक्तदुरुक्तार्थचिन्ताकारि तु वार्तिकम्।"

अकलंकदेव भी वार्तिककार हुए हैं। उन्होंने भी अपने राजवार्तिकमें ऐसा किया है। परन्तु उनकी दृष्टि पूज्यपादकी उक्त सदोष उक्ति पर नहीं पहुँची, ऐसा मालुम होता है। अथवा कुछ पहुँची भी है, यदि उनके '**तदपि षष्ठमणुव्रतं**' इस वाक्यका 'वह (रात्रिभोजनविरति) भी छठा अणुव्रत है' ऐसा अर्थ न करके 'वह छठा अणुव्रत भी है' यह अर्थ किया जाय। ऐसी हालतमें कहा जायगा कि उन्होंने पूज्यपादकी उस दुरुक्तिका सिर्फ आंशिक संशोधन किया है। क्योंकि छठे

अणुव्रतका उल्लेख करके उन्होंने फिर आलोकितपानभोजन नामकी, भावनामें उसकी उसी तरहं सिद्धि नहीं की जिस तरह कि महाव्रतिओंकी दृष्टिसे रात्रिभोजनविरति नामके व्रतकी की है। और महाव्रतियोंकी दृष्टिसे जो आरंभदोषादिक हेतु प्रयुक्त किये गये हैं उनकी अणुव्रती गृहस्थोंके सम्बन्धमें अनुपपत्ति है—वे उनके नहीं बनते—इसलिये उनसे उक्त विषयकी कोई सिद्धि नहीं होती। मेरी रायमें श्रावकोंके छठे अणुव्रतकी, आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें कोई सिद्धि नहीं बनती; जैसा कि ऊपर कुछ विशेष रूपसे दिखलाया गया है।

इस संपूर्णकथनसे यह बात भले प्रकार समझमें आसकती है कि 'रात्रिभोजनविरति' नामका व्रत एक स्वतंत्र व्रत है। उसके धारण और पालनका उपदेश मुनि और श्रावक दोनोंको दिया जाता है—दोनोंसे उसका नियम कराया जाता है—वह अणुव्रतरूप भी है और महाव्रतरूप भी। महाव्रतोंमें भले ही उसकी गणना न हो—वह छठे अणुव्रतके सदृश छठा महाव्रत न माना जाता हो—और चाहे मुनियोंके मूलगुणोंमें भी उसका नाम न हो परंतु इसमें संदेह नहीं कि उसका अस्तित्व पंचमहाव्रतोंके अनंतर ही माना जाता है और उनके साथ ही मूलगुणके तौरपर उसके अनुष्ठानका पृथक् रूपसे विधान किया जाता है, जैसा कि इस लेखके शुरूमें उद्धृत किये हुए 'आचासारके' वाक्य और 'मूलाचार'के निम्नवाक्यसे भी प्रकट है:—

"तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणविरत्ती।"

ऐसी हालतमें रात्रिभोजनविरतिको यदि छठा महाव्रत मान लिया जाय अथवा महाव्रत न मानकर उसके द्वारा मुनियोंके मूलगुणोंमें एककी

वृद्धि की जाय—वे २८ के स्थानमें २९ स्वीकार किये जायँ—तो इसमें जैनधर्मके मूल सिद्धान्तोंसे कोई विरोध नहीं आता। मूलोत्तर गुण हमेशा एक ही प्रकारके और एकही संख्यामें नहीं रहा करते। वे समयकी आवश्यकताओं, देशकालकी परिस्थितियों और प्रतिपाद्यों (शिष्यों) की योग्यता आदिके अनुसार बराबर बदला करते हैं—उनमें फेरफारकी जरूरत हुआ करती है। **महावीर** भगवानसे पहले **अजितनाथ** तीर्थंकरपर्यंत व्रत एक था; क्योंकि बाईस तीर्थंकरोंने 'सामायिक' चारित्रका उपदेश दिया है, 'छेदोपस्थापना' चारित्रका नहीं। छेदोपस्थापनाका उपदेश **श्रीऋषभदेव** और **महावीर** भगवानने दिया है; जैसा कि श्रीवट्टकेराचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

***बावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति।**
छेदोवट्ठावणियं पुन भयवं उसहो य वीरो य ॥७-३२॥

—मूलाचार।

सामायिक चारित्रकी अपेक्षा व्रत एक होता है, जिसे अहिंसाव्रत अथवा सर्वसावद्यत्यागव्रत कहना चाहिये। वही व्रत छेदोपस्थापना चारित्रकी अपेक्षा पंच प्रकारका—अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह रूपसे वर्णन किया गया है; जैसा कि **श्रीपूज्यपाद** आचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

"सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं, तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधमिहोच्यते।"

—सर्वार्थसिद्धि।

---

* यह गाथा श्वेताम्बरोंकी 'आवश्यकनिर्युक्ति'में भी, जिसे भद्रबाहु श्रुतकेवलीकी बनाई हुई कहा जाता है, नं० १२४६ पर, साधारणसे पाठ भेदके साथ, पाई जाती है।

इससे स्पष्ट है कि जब महावीर भगवानसे पहले अजितनाथ तीर्थंकर-पर्यंत व्रतोंमें सत्यव्रतादिककी कल्पना नहीं थी, अविभक्तरूपसे एक अहिंसाव्रत माना जाता था—सिर्फ अहिंसाको धर्म और हिंसाको पाप गिना जाता था—तब उस वक्त मुनियोंके ये अट्ठाईस मूल गुण भी नहीं थे और न श्रावकोंके वर्तमान बारह व्रत बन सकते हैं—उनकी संख्या भी कुछ और ही थी। **यह सब भेदकल्पना महावीर भगवानके समयसे हुई है**। संभव है कि महावीर भगवानको अपने समयमें मुनियोंको रात्रिभोजनके त्यागकी पृथकरूपसे उपदेश देनेकी जरूरत न पड़ी हो, उस वक्त आलोकितपानभोजन नामकी भावना आदिसे ही काम चल जाता हो और यह जरूरत पीछेके कुछ आचार्योंको **द्वादशवर्षीय दुष्कालके** समयसे पैदा हुई हो, जब कि बहुतसे मुनि रात्रिको भोजन करने लगे थे और शायद '**परकृतप्रदीप**'[1] और '**दिवानीत**'[2] आदि हेतुओंसे अपने पक्षका समर्थन किया करते थे। और इस लिये दूरदर्शी आचार्योंने उस वक्त मुनियोंके लिये महाव्रतोंके साथ—उनके अनन्तर ही—रात्रिभोजनविरतिका एक पृथक व्रतरूपसे विधान करना आवश्यक समझा। वही विधान अबतक चला आता है। ऐसी ही हालत छठे अणुव्रतकी जान पड़ती है। उसे भी किसी समयके आचार्योंने ज़रूरी समझ कर उसका विधान किया है। परन्तु

१ भोजन हम दीपकके प्रकाशमें अच्छी तरहसे देख भालकर करते हैं, और दीपकको दूसरेने स्वयं जलाया है इसलिये हमें उसका आरंभादिक दोष भी नहीं लगता।

२ भोजनके लिये रात्रिको विहार करने आदिका जो दोष आता था सो ठीक, परन्तु हम दिनमें विधिपूर्वक गोचरीके द्वारा भोजन ले आते हैं और रात्रिको परकृत प्रदीपके प्रकाशमें अच्छी तरह देख भालकर खा लेते हैं, इसलिये हमें कोई दोष नहीं लगता।

इन सब विधि-विधानोंका जैनसिद्धान्तों अथवा महावीर भगवानके शासनके साथ कोई विरोध नहीं है—सबका आशय और उद्देश्य सावद्य कर्मोंको छुड़ानेका है—यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक आचार्यने छठे अणुव्रतका विधान करके अथवा मुनियोंके लिये पृथकरूपसे एक नये व्रतकी ईजाद करके **महावीर** भगवानकी आज्ञाका उल्लंघन किया अथवा उन्मार्ग फैलाया है। ऐसा कहना भूल होगा। **महावीर** भगवानने सावद्यकर्मोंके त्यागका एक नुसखा (ओपधिकल्प) बतलाया था, जो उस समय उनके शिष्योंकी प्रकृतिके बहुत अनुकूल था। उनके इस बतलानेका यह आशय नहीं था कि दूसरे समयोंमें—शिष्योंकी प्रकृति बदल जानेपर भी—उसमें कुछ फेरफार न किया जाय। इसीलिये उसमें अविरोधदृष्टिसे फेरफार किया गया है और अब भी उसी दृष्टिसे किया जा सकता है। आज यदि कोई **महात्मा**, वर्तमान देशकालकी परिस्थितियों और आवश्यकताओंके अनुसार अणुव्रतोंकी संख्यामें एक नये व्रतकी वृद्धि करना चाहे—अर्थात्, (उदाहरणके तौर पर, '**स्वदेशवस्तुव्यवहार**' नामका सातवाँ अणुव्रत स्थापित करे, तो वह खुशीसे ऐसा कर सकता है। उसमें भी कोई आपत्ति किये जानेकी जरूरत नहीं है। क्योंकि अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिये ('**अहिंसाव्रतरक्षार्थं**' इति सोमदेवः) अथवा पाँचों व्रतोंकी रक्षाके लिये ('**तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं**' इति वट्टकेरः) जिस प्रकार 'रात्रिभोजनविरति'का विधान किया गया है उसी प्रकार अपरिग्रह—परिमितपरिग्रह—व्रतकी रक्षाके लिये अथवा अहिंसादिक पाँचों ही व्रतोंकी रक्षाके लिये 'स्वदेशवस्तुव्यवहार' नामका व्रत बहुतही उपयोगी जान पड़ता है। आजकल इसकी बड़ी जरूरत भी है—विदेशी वस्तुओंके प्रबल प्रचारके कारण मनुष्योंका नाकों दम है, उनमें इतनी जरूरतें बढ़ गई हैं और इतनी विलासप्रियता

छागई है कि उन सबके चक्करमें पड़कर उन्हें धर्मकर्मकी प्रायः कुछ भी नहीं सूझती । और इसलिये धर्मकर्मका सब विधि विधान पुस्तकोंमें ही रक्खा रह जाता है—उन्हें अपनी कृत्रिम आवश्यकताओंको पूरा करनेसे ही फुर्सत नहीं मिलती । इन सब आपत्तियोंसे बचनेके लिये 'स्वदेश-वस्तुव्यवहार' नामका व्रत एक अमोघ शास्त्रका काम देगा । ऐसे महान् उपयोगी व्रतका विधान कभी महावीर भगवानके शासनके विरुद्ध नहीं हो सकता और न वह जैनसिद्धान्तोंके ही विरुद्ध कहा जा सकता है । अस्तु ।

यहाँ, श्वेताम्बर आचार्योंका दृष्टिसे, मैं सिर्फ इतना और बतलाना चाहता हूँ कि उन्होंने रात्रिभोजनविरतिको छठा अणुव्रत तो नहीं माना, परन्तु साधुके २७ मूलगुणोंमें उसे पंचमहाव्रतोंके बाद छठा व्रत जरूर माना है । श्रावकोंके लिये श्रीहेमचन्द्राचार्यने रात्रि-भोजनके त्यागका विधान 'भोगोपभोगपरिमाण' नामके दूसरे गुणव्रतमें किया है । परन्तु श्रावकप्रज्ञप्तिके कर्ता आचार्यका उक्त गुणव्रतमें वैसा कोई विधान नहीं है । उसके टीकाकार श्रीहरिभद्रसूरि भी वहाँ रात्रि-भोजनके त्यागका कोई उल्लेख नहीं करते । उन्होंने 'वृद्धसम्प्रदाय' रूपसे जो प्राकृत गद्य अपनी टीकामें उद्धृत किया है उसमें भी रात्रि-भोजनके त्यागकी कोई विधि नहीं है । श्वेताम्बरसम्प्रदायका मुख्य ग्रन्थ उपासकदशांगसूत्र भी इस विषयमें मौन है—वह उक्त गुणव्रतका वर्णन करते हुए रात्रिभोजनके त्यागका कुछ भी उल्लेख नहीं करता । इन सब बातोंसे ऐसा मालूम होता है कि उनके यहाँ 'भोगोपभोग-परिमाण' नामके गुणव्रतमें रात्रिभोजनके त्यागका कोई खास नियम नहीं है । अन्यथा, श्रावकप्रज्ञप्तिके कर्ता या कमसे कम उसके टीकाकार उसका वहाँ उल्लेख जरूर करते । सम्भव है कि इस विषयमें उक्त सम्प्रदायके

आचार्योंमें और भी मतभेद हो जो अभीतक अपनेको मालूम नहीं हुआ।

इस तरह आचार्योंके शासनभेद-द्वारसे यह अणुव्रतोंकी संख्या आदिका कुछ विवेचन किया गया है। अणुव्रतोंके स्वरूप-विषयक विशेष भेदको फिर किसी समय दिखलानेका यत्न किया जायगा।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत

जैनधर्ममें, अणुव्रतोंके पश्चात्, श्रावकके बारह व्रतोंमें तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतोंका विधान पाया जाता है। इन सातों व्रतोंको सप्त शीलव्रत भी कहते हैं। गुणव्रतोंसे अभिप्राय उन व्रतोंका है जो अणुव्रतोंके गुणार्थ अर्थात् उपकारके लिये नियत किये गये हैं—भावनाभूत हैं—अथवा जिनके द्वारा अणुव्रतोंकी वृद्धि तथा पुष्टि होती है। और शिक्षाव्रत उन्हें कहते हैं जिनका मुख्य प्रयोजन शिक्षा अर्थात् अभ्यास है—जो शिक्षाके स्थानक तथा अभ्यासके विषय हैं—अथवा शिक्षाकी—विद्योपादानकी—जिनमें प्रधानता है और जो विशिष्ट श्रुतज्ञानभावनाकी परिणतिद्वारा निर्वाह किये जानेके योग्य होते हैं। इनमें गुणव्रत प्रायः यावज्जीविक कहलाते हैं; अर्थात्, उनके धारणका नियम प्रायः जीवनभरके लिये होता है—वे प्रतिसमय पालन किये जाते हैं—और शिक्षाव्रत यावज्जीविक न होकर प्रतिदिन तथा नियत दिवसादिकके विभागसे अभ्यसनीय होते हैं—उनका अभ्यास प्रतिसमय नहीं हुआ करता, उन्हें परिमितकालभावित समझना चाहिये। यही सब इन दोनों

प्रकारके व्रतोंमें परस्पर उल्लेखयोग्य भेद पाया जाता है * । यद्यपि इन दोनों जातिके व्रतोंकी संख्यामें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती—प्रायः सभी आचार्योंने, जिन्होंने गुणव्रत और शिक्षाव्रतका विधान किया है, गुणव्रतोंकी संख्या तीन और शिक्षाव्रतोंकी संख्या चार बतलाई है—तो भी इनके भेद तथा स्वरूपादिकके प्रतिपादनमें कुछ आचार्योंके परस्पर मत-भेद है। उसी मत-भेदको स्थूलरूपसे दिखलानेका यहाँपर यत्न किया जाता है:—

---

* यथाः—

१—अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ।

—इति स्वामिसमन्तभद्रः ।

२—"गुणार्थमणुव्रतानामुपकारार्थंव्रतं गुणव्रतं । शिक्षायै अभ्यासाय व्रतं देशावकाशिकादीनां प्रतिदिवसाभ्यसनीयत्वात् । अतएव गुणव्रतादस्य भेदः । गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाहुः । अथवा शिक्षाविद्योपादानं शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतं देशावकाशिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानभावनापरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ।" "शिक्षाव्रतत्वं चास्य शिक्षाप्रधानत्वात् परिमितकालं भावित्वाच्च ।"

—इत्याशाधरः, स्वसागरधर्मामृतटीकायां ।

३—"अणुव्रतानां परिपालनाय भावनाभूतानि गुणव्रतानि ।" "शिक्षापदानि च शिक्षाव्रतानि वा तत्र शिक्षा अभ्यासः स च चारित्रनिबन्धनविशिष्टक्रियाकलापविषयस्तस्य पदानि स्थानानि तद्विषयानि वा व्रतानि शिक्षाव्रतानि ।"

—इति श्रावकप्रज्ञप्तिटीकायां, हरिभद्रः ।

४—"शीलं च गुणशिक्षाव्रतं । तत्र गुणव्रतानि अणुव्रतानां भावनाभूतानि । यथाणुव्रतानि तथा गुणव्रतान्यपि सकृद्गृहीतानि यावज्जीवं भावनीयानि ।"..."शिक्षाऽभ्यासस्तस्याः पदानि स्थानानि अभ्यासविषयस्तान्येव व्रतानि शिक्षापदव्रतानीति । गुणव्रतानि तु न प्रतिदिवसग्राह्याणि सकृद्ग्रहणान्येव ।

—इति तत्त्वार्थसूत्रस्य स्वस्वटीकायां सिद्धसेनगणिः यशोभद्रश्च ।

(१) श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, अपने 'चारित्रपहुड' में, इन व्रतोंके भेदोंका प्रतिपादन इस प्रकारसे करते हैं:—

दिसविदिसमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं ।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥ २५ ॥
सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं ।
तइयं अतिहीपुज्जं चउत्थं संलेहणा अंते ॥ २६ ॥

अर्थात्—१ दिशाविदिशाओंका परिमाण, २ अनर्थदंडका त्याग और ३ भोगोपभोगका परिमाण, ये ही तीन गुणव्रत हैं। १ सामायिक, २ प्रोषध, ३ अतिथिपूजन और ४ अन्तमें सल्लेखना, ये चार शिक्षाव्रत हैं।

'देवसेन' और 'शिवकोठि' नामके आचार्योंने भी अपने अपने ग्रन्थोंमें इसी मतका प्रतिपादन किया है। यथा:—

दिसिविदिसिपच्चक्खाणं अणत्थदंडाण होइ परिहारो ।
भोओपभोयसंखा एएहु गुणव्वया तिण्णि ॥ ३५४ ॥
देवे थुवइ तियाले पव्वे पव्वे सुपोसहोवासं ।
अतिहीण संविभागो मरणंते कुणइ सल्लिहणं ॥ ३५५ ॥

—भावसंग्रहे, देवसेनः ।

(यहाँ 'देवे थुवइ तियाले' (त्रिकालदेववन्दना) से 'सामायिक' का अभिप्राय है।

गुणव्रतानामाद्यं स्याद्दिग्व्रतं तद् द्वितीयकम् ।
अनर्थदण्डविरतिस्तृतीयं प्रणिगद्यते ॥ १६ ॥
भोगोपभोगसंख्यानं, शिक्षाव्रतमिदं भवेत् ।
सामायिकं प्रोषधोपवासोऽतिथिषु पूजनम् ॥ १७ ॥
मारणान्तिकसल्लेख इत्येवं तच्चतुष्टयम् ।....१८ ॥

रत्नमालायां, शिवकोटिः ।

(२) तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता **श्रीउमास्वाति** आचार्यने यद्यपि अपने सूत्रमें 'गुणव्रत' और 'शिक्षाव्रत' ऐसा स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया, तो भी सातवें अध्यायमें सप्तशील व्रतोंका जिस क्रमसे निर्देश किया है उससे माॡम होता है कि उन्होंने १ दिग्विरति, २ देशविरति, ३ अनर्थदण्ड-विरतिको गुणव्रत; और १ सामायिक, २ प्रोषधोपवास, ३ उपभोगपरि-भोगपरिमाण, ४ अतिथिसंविभागको शिक्षाव्रत माना है । यथाः—

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोपधोपवासोपभोगपरिभोग-परिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ।

इस सूत्रकी टीकामें—'सर्वार्थसिद्धिमें'—**श्रीपूज्यपाद** आचार्य भी "**दिग्विरतिः, देशविरतिः, अनर्थदंडविरतिरिति। एतानि त्रीणि गुणव्रतानि**" इस वाक्यके द्वारा पहले तीन व्रतोंको गुणव्रत सूचित करते हैं। और इसलिये बाकीके चारों व्रत शिक्षाव्रत हैं, यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि शीलव्रत गुणशिक्षाव्रतात्मक कहलाते हैं।

सप्तशीलानि गुणव्रतशिक्षाव्रतव्यपदेशभांजीति ।

ऐसा, श्लोकवार्तिकमें, **श्रीविद्यानन्द** आचार्यका भी वाक्य है ।

इससे उमास्वाति आचार्यका शासन, और संभवतः उनके समर्थक श्रीपूज्यपाद और विद्यानन्दआचार्यका शासन भी, इस विषयमें, कुन्दकुन्दा-चार्य आदिके शासनसे एकदम विभिन्न जान पड़ता है । उमास्वातिने **सल्लेखना**को शिक्षाव्रतोंमें तो क्या, श्रावकके बारह व्रतोंमें भी वर्णन नहीं किया; बल्कि व्रतोंके अनन्तर उसे एक जुदा ही धर्म प्रतिपादन किया है, जिसका अनुष्ठान मुनि और श्रावक दोनों किया करते हैं । इसके सिवाय, उन्होंने गुणव्रतोंमें '**देशविरति**' नामके एक नये व्रतकी कल्पना की है और, साथ ही, **भोगोपभोगपरिमाण** व्रतको गुणव्रतोंसे

निकाल कर शिक्षाव्रतोंमें दाखिल किया है। तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकारों **पूज्यपाद, अकलंकदेव** और **विद्यानन्द**मेंसे किसीने उनके इस कथनपर कोई आपत्ति नहीं की। बल्कि **विद्यानन्द**ने एक वाक्यद्वारा साफ तौरसे सल्लेखनाको अलग दिखलाया है और यह प्रतिपादन किया है कि 'जिसप्रकार मुनियोंके महाव्रत और शीलव्रत सम्यक्त्वपूर्वक तथा सल्लेखनान्त होते हैं उसी प्रकार गृहस्थके पंच अणुव्रत और गुणव्रत-शिक्षाव्रतके विभागको लिये हुए, सप्तशीलव्रत भी सम्यक्त्वपूर्वक तथा सल्लेखनान्त समझने चाहियें। अर्थात्, इन व्रतोंसे पहले सम्यक्त्वकी जरूरत है और अन्तमें—मृत्युके संनिकट होनेपर—सल्लेखना, संन्यास अथवा समाधिका विधान होना चाहिये।' वह वाक्य इस प्रकार है:—

"तेन गृहस्थस्य पंचाणुव्रतानि सप्तशीलानि गुणव्रतशिक्षाव्रत-व्यपदेशभांजीति द्वादशदीक्षाभेदाः सम्यक्त्वपूर्वकाः सल्लेखनांताश्च महाव्रततच्छीलवत्।"

इस वाक्यमें गृहस्थके वारहव्रतोंको '**द्वादश दीक्षाभेद**' प्रकट किया है, जिससे उन लोगोंका वहुत कुछ समाधान हो सकता है जो अभी-तक यह समझे हुए हैं कि श्रावकके वारहव्रतोंका युगपत् ही ग्रहण होता है, क्रमशः अथवा व्यस्त रूपसे नहीं।

हाँ, श्वेताम्बर टीकाकारोंमें श्री**सिद्धसेन**गणि और **यशोभद्र**जीने उमास्वातिके उक्त सूत्रपर कुछ आपत्ति जरूर की है। उन्होंने, दिग्विरतिके वाद देशविरतिके कथनको परमागमके क्रमसे विभिन्न सूचित करते हुए, एक प्रश्न खड़ा किया है और उसके द्वारा यह विकल्प उठाया है कि, जब परमागममें गुणव्रतोंका क्रमसे निर्देश करनेके बाद शिक्षाव्रतोंका उपदेश दिया गया है तो फिर सूत्रकार

(उमास्वाति) ने उसके विरुद्ध भिन्नक्रम किस लिये रक्खा है। अर्थात् दिग्विरत्यादि गुणव्रतोंका कथन पूरा किये बिना ही बीचमें 'देशविरति' नामके शिक्षाव्रतका उपदेश क्यों दिया है? और फिर आगे स्वयं ही इस क्रमभंगके आरोपका समाधान किया है। यथाः—

"संप्रति क्रमनिर्दिष्टं देशव्रतमुच्यते। अत्राह वक्ष्यति भगवान् देशव्रतं। परमार्षप्रवचनक्रमः कैमर्थ्याद्भिन्नः सूत्रकारेण। आर्षे तु गुणव्रतानि क्रमेणादिश्य शिक्षाव्रतान्युपदिष्टानि सूत्रकारेण त्वन्यथा। तत्रायमभिप्रायः पूर्वतो योजनशतपरिमितं गमनमभिगृहीतं न चास्ति संभवो यत्प्रतिदिवसं तावती दिगवगाह्याऽतस्तदनंतरमेवोपदिष्टं देशव्रतमिति। देशे भागेऽवस्थापनं प्रतिप्रदिनं प्रतिप्रहरं प्रतिक्षणमिति सुखावबोधार्थमन्यथाक्रमः।"

इस अवतरणमें क्रमभंगके आरोपका जो समाधान किया गया है और उसका जो अभिप्राय बतलाया गया है, वह इस प्रकार हैः—

'पहलेसे सौ योजन गमनका परिमाण ग्रहण किया था, परंतु यह संभव नहीं कि प्रति दिन इतने परिमाणमें दिशाओंका अवगाहन हो सके इस लिये उसके (दिग्व्रतके) बाद ही देशव्रतका उपदेश दिया गया है। इस तरह सुखसे समझमें आनेके लिये (सुखावबोधार्थ) सूत्रकारने यह भिन्नक्रम रक्खा है।'

जो विद्वान निष्पक्ष विचारक हैं उन्हें ऊपरके इन समाधानवाक्योंसे कुछ भी संतोष नहीं हो सकता। वास्तवमें इनके द्वारा आरोपका कुछ भी समाधान नहीं हो सका। देशव्रतको दिग्व्रतके अनन्तर रखनेसे वह भले प्रकार समझमें आ जाता है, बादको रखनेसे वह समझमें न आता या कठिनतासे समझमें आता, ऐसा कुछ भी नहीं है। और

इस लिये 'सुखावबोध' नामके जिस हेतुका प्रयोग किया गया है वह कुछ कार्यसाधक मालूम नहीं होता। सूत्रकार जैसे विद्वानोंसे ऐसी बड़ी गलती कभी नहीं हो सकती कि वे, जानते बूझते और मानते हुए भी, ख्वामख्वाह एक जातिके व्रतको दूसरी जातिके व्रतोंमें शामिल कर दें, उन्हें ऐसी बातोंका खास खयाल रहता है और इसी लिये उन्होंने अपने सूत्रमें अनेक बातोंको, किसी न किसी विशेषताके प्रतिपादनार्थ, अलग अलग विभक्तियोंद्वारा दिखलानेकी चेष्टा भी की है। यहाँ क्रमनिर्देशसे ही गुणव्रत और शिक्षाव्रत अलग हो जाते हैं, इस लिये किसी विभक्तिद्वारा उन्हें अलग अलग दिखलानेकी जरूरत नहीं पड़ी। हाँ, दिग्देशानर्थ दंडके बाद '**विरति**' शब्द लगाकर इन तीनों व्रतोंकी एकजातीयता और दूसरे व्रतोंसे विभिन्नताको कुछ सूचित जरूर किया है, ऐसा मालूम होता है। यदि उमास्वातिको 'देशविरति' नामके व्रतका शिक्षाव्रत होना इष्ट होता तो कोई वजह नहीं थी कि वे उसका यथास्थान निर्देश न करते। तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमें भी, जिसे स्वयं उमास्वातिका बनाया हुआ भाष्य बतलाया जाता है, इस विषयका कोई स्पष्टीकरण नहीं है। यदि उमास्वातिने सुखावबोधके लिये ही (जो प्रायः सिद्ध नहीं है) यह क्रमभंग किया होता और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य स्वयं उन्हींका स्वोपज्ञ टीकाग्रंथ था तो वे उसमें अपनी इस बातका स्पष्टीकरण जरूर करते, ऐसा हृदय कहता है। परंतु वैसा नहीं पाया जाता और न उनकी इस सुखावबोधिनी वृत्तिका श्वेताम्बर सम्प्रदायमें पीछेसे कुछ अनुकरण देखा जाता है। इस लिये, बिना इस बातको स्वीकार किये कि उमास्वाति आचार्य 'देशविरति' नामके व्रतको गुणव्रत और 'उपभोगपरिभोगपरिमाण' नामके व्रतको शिक्षाव्रत मानते थे, उक्त क्रमभंगके आरोपका समुचित समाधान नहीं बनता। मुझे तो ऐसा

माल्म होता है कि श्वेताम्बरसम्प्रदायके आगम ग्रंथोंसे तत्त्वार्थसूत्रकी विधि ठीक मिलानेके लिये ही यह सब खींचातानी की गई है। अन्यथा, उमास्वाति आचार्यका मत इस विषयमें वही माल्म होता है जो इस नम्बर (२) के शुरूमें दिखलाया गया है और जिसका समर्थन श्रीपूज्यपादादि आचार्योंके वाक्योंसे भले प्रकार होता है। और भी बहु-तसे आचार्य तथा विद्वान् इस मतको माननेवाले हूए हैं, जिनमेंसे कुछके वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

दिग्देशानर्थदंडानां विरतिस्त्रितयाश्रयम् ।
गुणव्रतत्रयं सद्भिः सागारयतिषु स्मृतम् ॥
आदौ सामायिकं कर्म प्रोषधोपासनक्रिया ।
सेव्यार्थनियमो दानं शिक्षाव्रतचतुष्टयं ॥

—यशस्तिलके, सोमदेवः ।

(यहाँ 'सेव्यार्थनियम' से उपभोगपरिभोगपरिमाणका और 'दान' से अतिथिसंविभागका अर्थ समझना चाहिये।)

स्थवीयसीं विरतिमभ्युपगतस्य श्रावकस्य व्रतविशेषो गुण-व्रतत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टयं शीलसप्तकमित्युच्यते । दिग्विरतिः, देशविरतिः, अनर्थदंडविरतिः, सामायिकं, प्रोषधोपवासः, उप-भोगपरिभोगपरिमाणं, अतिथिसंविभागश्चेति ।

—चारित्रसारे, श्रीचामुंडरायः ।

दिग्देशानर्थदंडेभ्यो विरतिर्या विधीयते
जिनेश्वरसमाख्यातं त्रिविधं तद्गुणव्रतं ॥

—सुभाषितरत्नसंदोहे, अमितगतिः ।

शिक्षाव्रतं चतुर्भेदं सामायिकमुपोषितम् ।
भोगोपभोगसंख्यानं संविभागोऽशनेऽतिथेः ॥ १९-८३ ॥

—धर्मपरीक्षायां, अमितगतिः ।

दिग्देशानर्थदंडेभ्यो यत्त्रिधा विनिवर्तनम् ।
पोतायते भवाम्भोधौ त्रिविधं तद्गुणव्रतम् ॥
भोगोपभोगसंख्यानं....। तृतीयं तत्तदाख्यं स्यात्....॥

—धर्मशर्माभ्युदये, श्रीहरिचंद्रः ।

ऊपरके इन सब अवतरणोंसे साफ प्रकट है कि श्रीसोमदेवसूरि, चामुंडराय, अमितगति आचार्य और श्रीहरिचंद्रजीने दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंडविरति इन तीनोंको गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण, अतिथिसंविभाग, इन चारोंको शिक्षाव्रत वर्णन किया है । साथ ही, इन सभी विद्वानोंने भी सल्लेखनाको श्रावकके बारह व्रतोंसे अलग एक जुदा धर्म प्रतिपादन किया है । इस लिये इनका शासन भी, इस विषयमें श्रीकुंदकुंदाचार्यके शासनसे विभिन्न है। परंतु उसे उमास्वातिके शासनके अनुकूल समझना चाहिये ।

(३) स्वामी समंतभद्र अपना शासन, इस विषयमें, कुंदकुंद और उमास्वातिके शासनसे कुछ भिन्नाभिन्नरूपसे स्थापित करते हुए, अपने 'रत्नकरंडक' नामके उपासकाध्ययनमें, इन व्रतोंका प्रतिपादन इस प्रकारसे करते हैं:—

दिग्व्रतमनर्थदंडव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥
देशावकाशिकं वा सामयिकं प्रोषधोपवासो वा ।
वैय्यावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥

अर्थात्—दिग्व्रत, अनर्थदंडव्रत और भोगोपभोगपरिमाण, इन तीन व्रतोंके द्वारा गुणोंकी (अणुव्रतोंकी अथवा समन्तभद्र-प्रतिपादित अष्ट मूलगुणोंकी) वृद्धि तथा पुष्टि होनेसे आर्य पुरुष इन्हें गुणव्रत कहते हैं। देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैय्यावृत्य, ये चार शिक्षाव्रत बतलाये गये हैं।

इससे स्पष्ट है कि गुणव्रतोंके सम्बन्धमें स्वामी समन्तभद्र और कुन्दकुन्दाचार्यका शासन एक है। परन्तु शिक्षाव्रतोंके सम्बन्धमें वह एक नहीं है। समंतभद्रने '**सल्लेखना**' को शिक्षाव्रतोंमें नहीं रक्खा बल्कि उसकी जगह '**देशावकाशिक**' नामके एक दूसरे व्रतकी तजवीज़ की है और उसे शिक्षाव्रतोंमें सबसे पहला स्थान प्रदान किया है। रही उमास्वातिके साथ तुलनाकी बात, समन्तभद्रका शासन उमास्वातिके शासनसे दोनों ही प्रकारके व्रतोंमें कुछ विभिन्न है। उमास्वातिने जिस 'देशविरति' व्रतको दूसरा गुणव्रत बतलाया है समन्तभद्रने उसे 'देशावकाशिक' नामसे पहला शिक्षाव्रत प्रतिपादन किया है। और समन्तभद्रने जिस 'भोगोपभोगपरिमाण' नामके व्रतको गुणव्रतोंमें तीसरे नम्बर पर रक्खा है उसे उमास्वातिने शिक्षाव्रतोंमें तीसरा स्थान प्रदान किया है। इसके सिवाय, 'अतिथिसंविभाग' के स्थानमें 'वैय्यावृत्य' को रखकर समन्तभद्रने उसकी व्यापकताको कुछ अधिक बढ़ा दिया है। उससे अब केवल दानका ही प्रयोजन नहीं रहा बल्कि उसमें संयमी पुरुषोंकी दूसरी प्रकारकी सेवा टहल भी आ जाती है। इसी बातका स्पष्टीकरण करनेके लिये आचार्यमहोदयने, अपने ग्रन्थमें, दानार्थ-प्रतिपादक पद्यसे भिन्न एक दूसरा पद्य भी दिया है जो इस प्रकार है:—

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योपि संयमिनाम्॥

पं० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतमें इन व्रतोंका कथन प्रायः स्वामी समन्तभद्रके मतानुसार ही किया है । गुणव्रतोंका कथन प्रारंभ करते हुए, टीकामें, ' आहुर्ब्रुवन्ति स्वामिमतानुसारिणः ' इस वाक्यके द्वारा उन्होंने स्वामी समन्तभद्रके मतकी औरोंसे भिन्नता और अपनी उसके साथ अनुकूलताको खुले शब्दोंमें उद्घोषित किया है । परन्तु शिक्षाव्रतोंका प्रारंभ करते हुए टीकामें ऐसा कोई वाक्य नहीं दिया, जिसका कारण शायद यह मालूम होता है कि उन्होंने समन्तभद्रके ' वैय्यावृत्य ' नामक चौथे शिक्षाव्रतके स्थानमें उमास्वातिके ' अतिथि-संविभाग ' व्रतको ही रखना पसंद किया है । और उसका लक्षण भी दानार्थ-प्रतिपादक किया है । यथाः—

व्रतमतिथिसंविभागः पात्रविशेषाय विधिविशेषेण ।
द्रव्यविशेषवितरणं दातृविशेषस्य फलविशेषाय ॥ ५–४१ ॥

' देशावकाशिक ' व्रतका वर्णन करते हुए, टीकामें, पं० आशाधर-जीने लिखा है कि, शिक्षाकी प्रधानता और परिमितकाल-भावितपनेकी वजहसे इस व्रतको शिक्षाव्रतत्वकी प्राप्ति है । यह दिग्व्रतके समान यावज्जीविक नहीं होता । परन्तु तत्त्वार्थसूत्र आदिकमें जो इसे गुणव्रत माना सो वहाँ इसका लक्षण दिग्व्रतको संक्षिप्त करने मात्र विवक्षित मालूम होता है । साथ ही, वहाँ इसे दूसरे गुण-व्रतादिकोंका संक्षेप करनेके लिये उपलक्षण रूपसे प्रतिपादित समझना चाहिये । अन्यथा, दूसरे व्रतोंके संक्षेपको यदि अलग अलग व्रत कर दिया जाता तो व्रतोंकी ' बारह ' संख्यामें विरोध आता । यथाः—

" शिक्षाव्रतत्वं चास्य शिक्षाप्रधानत्वात्परिमितकालभावित्वा-च्चोच्यते । न खल्वेतद्दिग्व्रतवद्यावज्जीविकमपीष्यति । यत्तु तत्त्वा-र्थादौ गुणव्रतत्वमस्य श्रूयते तद्दिग्व्रतसंक्षेपणलक्षणत्वमात्रस्यैव

विवक्षितत्वाल्लक्ष्यते । दिग्व्रतसंक्षेपकरणं चात्रा(न्य)गुणव्रतादि-संक्षेपकरणस्याप्युपलक्षणं द्रष्टव्यं । एषामपि संक्षेपस्यावश्यकर्तव्यत्वात्प्रतिव्रतं च संक्षेपकरणस्य भिन्नव्रतत्वे गुणाः स्युर्द्वादशेति संख्याविरोधः स्यात् ।"

पं० आशाधरजीके इन वाक्योंसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि उमास्वातिका शासन, चाहे वह किसी भी विवक्षासे* क्यों न हो, इस विषयमें समन्तभद्रके शासनसे और उन श्वेताम्बर आचार्योंके शासनसे विभिन्न है जिन्होंने 'देशावकाशिक' को शिक्षाव्रत प्रतिपादन किया है।

(४) स्वामिकार्तिकेयने, अपने 'अनुपेक्षा' ग्रन्थमें देशावकाशिकको चौथा शिक्षाव्रत प्रतिपादन किया है। अर्थात्, शिक्षाव्रतोंमें उसे पहला दर्जा न देकर अन्तका दर्जा प्रदान किया है। साथ ही, उसके स्वरूपमें दिशाओंके परिमाणको संकोचनेके साथ साथ इन्द्रियोंके विषयोंको अर्थात् भोगोपभोगके परिमाणको भी संकोचनेका विधान किया है। यथाः—

पुव्वपमाणकदाणं सव्वदिसीणं पुणोवि संवरणं ।
इन्द्रियविसयाण तहा पुणोवि जो कुणदि संवरणं ॥ ३६७ ॥
वासादिकयपमाणं दिणेदिणे लोहकामसमणत्थं ।
सावज्जवज्जणट्ठं तस्स चउत्थं वयं होदि ॥ ३६८ ॥

* पं० आशाधरजीने जिस विवक्षाका उल्लेख किया है उसके अनुसार 'देशव्रत' गुणव्रत हो सकता है और उसका नियम भी यावज्जीवके लिये किया जा सकता है। इसी तरह भोगोपभोगपरिमाण यावज्जीविक भी होता है, ऐसा न मानकर यदि उसे नियतकालिक ही माना जावे तो इस विवक्षासे वह शिक्षाव्रतोंमें भी जा सकता है। विवक्षासे केवल विरोधका परिहार होता है। परंतु शासनभेद और भी अधिकताके साथ दृढ तथा स्पष्ट हो जाता है।

इस तरह उनके इस व्रतका क्रम तथा विषय समन्तभद्रके क्रम तथा विषयसे कुछ भिन्न है और इस भिन्नताके कारण दूसरे शिक्षाव्रतोंके क्रममें भी भिन्नता आ गई है—उनके नम्बर बदल गये हैं। इसके सिवाय, स्वामिकार्तिकेयने 'वैय्यावृत्य' के स्थानमें 'दान' का ही विधान किया है *। इन सब विभिन्नताओंके सिवाय, अन्य प्रकारसे उनका शासन, इस विषयमें, समन्तभद्रके शासनसे प्रायः मिलता जुलता है। और इस लिये यह कहनेमें कोई संकोच नहीं हो सकता कि स्वामिकार्तिकेयका शासन कुन्दकुन्द, उमास्वाति, पूज्यपाद, विद्यानन्द, सोमदेव, अमितगति और कुछ समन्तभद्रके शासनसे भी भिन्न है।

(५) श्रीजिनसेनाचार्य, 'आदिपुराण' के १०वें पर्वमें, लिखते हैं:—

दिग्देशानर्थदंडेभ्यो विरतिः स्याद्गुणव्रतम्।
भोगोपभोगसंख्यानमप्याहुस्तद्गुणव्रतम् ॥ ६५ ॥
समतां प्रोषधविधिं तथैवातिथिसंग्रहम्।
मरणान्ते च संन्यासं प्राहुः शिक्षाव्रतान्यपि ॥ ६६ ॥

अर्थात्—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंडविरति, ये (तीन) गुणव्रत हैं; भोगोपभोगपरिमाणको भी गुणव्रत कहते हैं। समता (सामायिक), प्रोषधविधि, अतिथिसंग्रह (अतिथिपूजन) और मरणके संनिकट होने पर संन्यास, इन (चारों) को शिक्षाव्रत कहते हैं।

इससे मालूम होता है कि श्रीजिनसेनाचार्यका मत, इस विषयमें, समन्तभद्रके मतसे बहुत कुछ भिन्न है। उन्होंने **देशविरति**को शिक्षाव्रतोंमें न रख कर उमास्वाति तथा पूज्यपादादिके सदृश उसे गुणव्रतोंमें

---

* "दाणं जो देदि सयं णवदाणविहीहिं संजुत्तो ॥
सिक्खावयं च तिदियं तस्स हवे......॥

रक्खा है, और साथ ही **संन्यास** (सल्लेखना) को भी शिक्षाव्रत प्रतिपादन किया है। इसके सिवाय, **भोगोपभोगपरिमाण**को भी जो उन्होंने गुणव्रत सूचित किया है उसे केवल समन्तभद्रादिके मतका उल्लेख मात्र समझना चाहिये। अन्यथा, गुणव्रतोंकी संख्या चार हो जायगी, और यह मत प्रायः सभीसे भिन्न ठहरेगा। हाँ, इतना जरूर है कि इसमें गुणव्रतसम्बन्धी प्रायः सभी मतोंका समावेश हो जायगा। शिक्षाव्रतोंके सम्बन्धमें आपका मत, कुन्दकुन्दको छोड़कर, उमास्वाति, पूज्यपाद, विद्यानन्द, सोमदेव, अमितगति, समन्तभद्र और स्वामिकार्तिकेय आदि प्रायः सभी आचार्योंसे भिन्न पाया जाता है।

(६) श्री**वसुनन्दी** आचार्यने, अपने श्रावकाचारमें, शिक्षाव्रतोंके १ भोगविरति, २ परिभोगनिवृत्ति; ३ अतिथिसंविभाग और ४ सल्लेखना, ये चार नाम दिये हैं। यथाः—

"तं भोयविरइ भणियं पढमं सिक्खावयं सुत्ते।"
"तं परिभोयणिवुत्ति विदियं सिक्खावयं जाणे।"
"अतिहिस्स संविभागो तिदियं सिक्खावयं मुणेयव्वं।"
"सल्लेखणं चउत्थं सुत्ते सिखावयं भणियं।"

इससे स्पष्ट है कि वसुनन्दी आचार्यका शासन, इस विषयमें, पहले कहे हुए सभी आचार्योंके शासनसे एकदम विभिन्न है। आपने **भोग-परिभोगपरिमाण** नामके व्रतको, जिसे किसीने गुणव्रत और किसीने शिक्षाव्रत माना था, दो टुकड़ोंमें विभाजित करके उन्हें शिक्षाव्रतोंमें सबसे पहले दो व्रतोंका स्थान प्रदान किया है और **भोगविरति**के सम्बन्धमें लिखा है कि उसे सूत्रमें पहला शिक्षाव्रत बतलाया है। मालूम नहीं वह कौनसा सूत्र-ग्रन्थ है, जिसमें केवल भोगविरतिको प्रथम शिक्षाव्रत

प्रतिपादन किया है। इसके सिवाय, आपने **सामायिक** और **प्रोषधोपवास** नामके दो व्रतोंको, जिन्हें उपर्युक्त सभी आचार्योंने शिक्षाव्रतोंमें रक्खा है, इन व्रतोंकी पंक्तिमेंसे ही क़तई निकाल डाला है। शायद आपको यह खयाल हुआ हो कि, जब 'सामायिक' और 'प्रोषधोपवास' नामकी दो प्रतिमाएँ ही अलग हैं तब व्रतिक प्रतिमामें इन दोनों व्रतोंके रखनेकी क्या जरूरत है और इसी लिये आपको वहाँसे इन व्रतोंके निकालनेकी जरूरत पड़ी हो, अथवा इस निकालनेकी कोई दूसरी ही वजह हो। कुछ भी हो, यहाँ मैं, इस विषयमें, कुछ विशेष विचार उपस्थित करनेकी जरूरत नहीं समझता। परन्तु इतना जरूर कहूँगा कि बारह व्रतोंमें—व्रतिक प्रतिमामें—सामायिक और प्रोषधोपवास शीलरूपसे निर्दिष्ट हैं और अपने अपने नामकी प्रतिमाओंमें वे व्रतरूपसे प्रतिपादित हुए हैं *। 'शील'का लक्षण **अकलंकदेव** और **विद्यानन्द**ने, अपने अपने वार्तिकोंमें 'व्रतपरिरक्षण' किया है। **पूज्यपाद** भी '**व्रतपरिरक्षणार्थं शीलं**' ऐसा लिखते हैं। जिस प्रकार परिधियाँ नगरकी रक्षा करती हैं उसी प्रकार 'शील' व्रतोंकी पालना करते हैं, ऐसा श्री**अमृतचन्द्र** आचार्यका कहना है ×। श्वेताम्बराचार्य श्री**सिद्धसेनगणि** और **यशोभद्र**जी भी अणुव्रतोंकी दृढ़ताके लिये शीलव्रतोंका उपदेश बतलाते हैं ※। अतः अहिंसादिक व्रतोंकी रक्षा,

---

* यत्प्राक् सामायिकं शीलं तद्व्रतं प्रतिमावतः।
यथा तथा प्रोषधोपवासोऽपीत्यत्र युक्तिवाक्॥
—सागारधर्मामृते, आशाधरः।

× परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
—पुरुषार्थसिद्ध्युपायः।

※ प्रतिपन्नस्याणुव्रतस्यागारिणस्तेषामेवाणुव्रतानां दार्ढ्यापादनाय शीलोपदेशः। —तत्त्वार्थसूत्रटीका।

परिपालना और दृढता सम्पादन करना ही सप्तशीलोंका मुख्य उद्देश्य है । और इस दृष्टिसे सप्तशीलोंमें वर्णित सामायिक और प्रोषधोपवासको नगरकी परिधि और शस्यकी वृति (धान्यकी बाड़) के समान अणुव्रतोंके परिरक्षक समझना चाहिये । वहाँ पर मुख्यतया रक्षणीय व्रतोंकी रक्षाके लिये उनका केवल अभ्यास होता है, वे स्वतन्त्र व्रत नहीं होते । परन्तु अपनी अपनी प्रतिमाओंमें जाकर वे स्वतन्त्र व्रत बन जाते हैं और तब परिधि अथवा वृति (बाड़) के समान दूसरोंके केवल रक्षक न रहकर नगर अथवा शस्यकी तरह स्वयं प्रधानतया रक्षणीय हो जाते हैं और उनका उस समय निरतिचार पालन किया जाता है * । यही इन व्रतोंकी दोनों अवस्थाओंमें परस्पर भेद पाया जाता है ।

मालूम नहीं उक्त वसुनन्दी सैद्धान्तिकने, श्रीकुन्दकुन्द, शिवकोटि, तथा देवसेनाचार्य और जिनसेनाचार्यने भी, सल्लेखनाको शिक्षाव्रतोंमें

---

* सातिचार और निरतिचारका यह मतभेद 'लाटीसंहिता' के निम्न वाक्यसे जाना जाता है:—

"सातिचारं तु तत्र स्यादत्रातीचारवर्जितम् ।"

इस संहितामें यह भी लिखा है कि व्रतप्रतिमामें यदि किसी समय किसी वजहसे इन सामायिकादिक व्रतोंका अनुष्ठान न किया जाय तो उससे व्रतको हानि नहीं पहुँचती, परन्तु अपनी प्रतिमामें जाकर उनके न करनेसे ज़रूर हानि पहुँचती है । जैसा कि सामायिक-विषयके उसके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

तत्र हेतुवशात्क्वापि कुर्यात्कुर्यान्नवा क्वचित् ।
सातिचारव्रतत्वाद्वा तथापि न व्रतक्षतिः ॥
अत्रावश्यं त्रिकालेऽपि कार्यं सामायिकं च यत् ।
अन्यथा व्रतहानिः स्यादतीचारस्य का कथा ॥

क्यों रक्खा है, जबकी शिक्षाव्रत अभ्यासके लिये नियत किये गये हैं और सल्लेखना मरणके सन्निकट होनेपर एक बार ग्रहण की जाती है, उसका पुनः पुनः अनुष्ठान नहीं होता और इसलिये उसके द्वारा प्रायः कोई अभ्यासविशेष नहीं बनता। दूसरे, प्रतिमाओंका विषय अपने अपने पूर्वगुणोंके साथ क्रम-विवृद्ध बतलाया गया है। अर्थात्, उत्तर-उत्तरकी प्रतिमाओंमें, अपने अपने गुणोंके साथ, पूर्व-पूर्वकी प्रतिमाओंके सारे गुण विद्यमान होने चाहियें*। बारह व्रतोंमें सल्लेखनाको स्थान देनेसें 'व्रतिक' नामकी दूसरी प्रतिमामें उसकी पूर्ति आवश्यक हो जाती है। विना उस गुणकी पूर्तिके अगली प्रतिमाओंमें आरोहण नहीं हो सकता और सल्लेखनाकी पूर्तिपर शरीरकी ही समाप्ति हो जाती है, फिर अगली प्रतिमाओंका अनुष्ठान कैसे बन सकता है? अतः सल्लेखनाको शिक्षाव्रत मानकर दूसरी प्रतिमामें रखनेसे तीसरी सामायिकादि प्रतिमाओंका अनुष्ठान अशक्य हो जाता है और वे केवल कथनमात्र रह जाती हैं, यह बड़ा दोष आता है। इस पर विद्वानोंको विचार करना चाहिये। इसी लिये प्रसंग पाकर यहाँ पर यह विकल्प उठाया गया है। सम्भव है कि ऐसे ही किन्हीं कारणोंसे समन्तभद्र, उमास्वाति, सोमदेव, अमितगति और स्वामि-कार्तिकेयादि आचार्योंने सल्लेखनाको शिक्षाव्रतोंमें स्थान न दिया हो, अथवा वसुनन्दी आदिकका सल्लेखनाको शिक्षाव्रत करार देनेमें कोई दूसरा ही हेतु हो। उन्हें प्रतिमाओंके विषयका अपने पूर्व गुणोंके साथ विवृद्ध

---

* श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः॥

—रत्नकरण्डके, समन्तभद्रः।

होना ही इष्ट न हो। कुछ भी हो, उसके माळूम होनेकी ज़रूरत है। और उससे आचार्योंका शासनभेद और भी अधिकताके साथ व्यक्त होगा।

गुणव्रतोंके सम्बन्धमें भी वसुनन्दीका शासन समन्तभद्रादिके शासनसे विभिन्न है उन्होंने दिग्विरति, देशविरति और संभवतः अनर्थदंडविरतिको गुणव्रत करार दिया है। अनर्थदंडके साथमें 'संभवतः' शब्द इस वजहसे लगाया गया है कि उन्होंने अपने ग्रन्थमें उसका नाम नहीं दिया। और लक्षण अथवा स्वरूप जो दिया है वह इस प्रकार है:—

अयदंडपासविक्कय कूडतुलामाणकूरसत्ताणं।
जं संगहो ण कीरइ तं जाण गुणव्वयं तिदियं॥

इसमें लोहेके दंड-पाशको न वेचने और झूठी तराजू, झूठे वाट तथा क्रूर जन्तुओंके संग्रह न करनेको तीसरा गुणव्रत वतलाया गया है। **अनर्थदंड**का यह लक्षण अथवा स्वरूप समन्तभद्रादिकके पंचभेदात्मक अनर्थदंडके लक्षण तथा स्वरूपसे विलकुल विलक्षण माळूम होता है। इसी तरह **देशविरति**का लक्षण भी आपका औरोंसे विभिन्न पाया जाता है। आपने उस देशमें गमनके त्यागको देशविरति वतलाया है जहाँ व्रतभंगका कोई कारण मौजूद हो *। और इस लिये जहाँ व्रतभंगका कोई कारण नहीं उन देशोंमें गमनका त्याग आपके उक्त व्रतकी सीमासे वाहर समझना चाहिये। दूसरे आचार्योंके मतानुसार देशावकाशिक व्रतके लिये ऐसा कोई नियम नहीं है। वे कुछ कालके लिये दिग्व्रत-द्वारा ग्रहण किये हुए क्षेत्रके एक खास देशमें स्थितिका संकल्प करके

* वयभंगकारणं होई जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण।
कीरइ गमणणियत्ती तं जाण गुणव्वयं विदियं॥ २१४॥

अन्य संपूर्ण देशों–भागों–के त्यागका विधान करते हैं चाहे उनमें व्रतभंगका कोई कारण हो या न हो । जैसा कि देशावकाशिक व्रतके निम्न लक्षणसे प्रकट है:—

स्थास्यामीदमिदं यावदियत्कालमिहास्पदे ।
इति संकल्प्य संतुष्टस्तिष्टन्देशावकाशिकी ॥

—इत्याशाधरः ।

यहाँ पर मुझे इन व्रतोंके लक्षणादिसम्बन्धी विशेष मतभेदको दिखलाना इष्ट नहीं है । वह वसुनन्दीसे पहले उल्लेख किये हुए आचार्योंमें भी, थोड़ा बहुत, पाया जाता है । और इन व्रतोंके अतिचारोंमें भी अनेक आचार्योंके परस्पर मतभेद है, इस संपूर्ण मतभेदको दिखलानेसे लेख बहुत बढ़ जायगा । अतः लक्षण, स्वरूप तथा अतीचारसंबंधी विशेष मतभेदको फिर किसी समय दिखलानेका यत्न किया जायगा । यहाँ, इस समय, सिर्फ इतना ही समझना चाहिये कि इन दोनों प्रकारके व्रतोंके भेदादिकप्रतिपादनमें आचार्योंके परस्पर बहुत कुछ मतभेद है । इन व्रतोंका विषयक्रम कक्षाओंके पठनक्रम (कोर्स course) की तरह समय समयपर बदलता रहा है । और इस लिये यह कहना बहुत कठिन है कि **महावीर** भगवानने इन विभिन्न शासनोंमेंसे कौनसे शासनका प्रतिपादन किया था । संभव है कि उनका शासन इन सबोंसे कुछ विभिन्न रहा हो । परंतु इतना ज़रूर कह सकते हैं कि इन विभिन्न शासनोंमें परस्पर सिद्धान्तभेद नहीं है—जैनसिद्धान्तोंसे कोई विरोध नहीं आता—और न इनके प्रतिपादनमें जैनाचार्योंका परस्पर कोई उद्देश्यभेद पाया जाता है । सबोंका उद्देश्य सावद्य कर्मोंके त्यागकी परिणतिको क्रमशः बढ़ाने—उसे अणुव्रतोंसे महाव्रतोंकी ओर ले जाने—और लोभादिकका निग्रह कराकर संतोषके साथ शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करानेका माल्म होता है । हाँ दृष्टिभेद,

अपेक्षाभेद, विषयभेद, क्रमभेद, प्रतिपादकोंकी समझ और प्रतिपाद्योंकी स्थिति आदिका भेद अवश्य है, जिसके कारण उक्त शासनोंको विभिन्न जरूर मानना पड़ेगा। और इस लिये यह कभी नहीं कहा जा सकता कि महावीर भगवानने ही इन सब विभिन्न शासनोंका विधान किया था—उनकी वाणीमें ही ये सब मत अथवा इनके प्रतिपादक शास्त्र इसी रूपसे प्रकट हुए थे। ऐसा मानना और समझना नितान्त भूलसे परिपूर्ण तथा वस्तुस्थितिके विरुद्ध होगा। अतः श्रीकुंदकुंदाचार्यने गुणव्रतोंके संबंधमें, 'एव, शब्द लगाकर—इयमेव गुणव्वया तिण्णि' ऐसा लिखकर—जो यह नियम दिया है कि, दिशा-विदिशाओंका परिमाण, अनर्थदंडका त्याग और भोगोपभोगका परिमाण, ये ही तीन गुणव्रत हैं, दूसरे नहीं, इसे उस समयका, उनके सम्प्रदायका अथवा खास उनके शासनका नियम समझना चाहिये। और श्रीअमितगतिने 'जिनेश्वरसमाख्यातं त्रिविधं तद्गुणव्रतं' इस वाक्यके द्वारा दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदंडविरतिको जो जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ गुणव्रत बतलाया है उसका आशय प्रायः इतना ही लेना चाहिये कि अमितगति इन व्रतोंको जिनेंद्रदेवका—महावीर भगवानका—कहा हुआ समझते थे अथवा अपने शिष्योंको इस ढंगसे समझाना उन्हें इष्ट था। इसके सिवाय, यह मान लेना ठीक नहीं होगा कि महावीर भगवानने ही इन दोनों प्रकारके गुणव्रतोंका प्रतिपादन किया था। इसी तरह अन्यत्र भी जानना।

वास्तवमें हर एक आचार्य उसी मतका प्रतिपादन करता है जो उसे इष्ट होता है और जिसे वह अपनी समझके अनुसार सबसे अच्छा तथा उपयोगी समझता है। और इस लिये इन

विभिन्न शासनोंको आचार्योंका अपना अपना मत समझना चाहिये। मेरी रायमें ये सब शासन भी, जैसा कि पहले प्रकट किया जा चुका है, पापरोगकी शांतिके नुसखे (Prescriptions) हैं —औषधिकल्प हैं—जिन्हें आचार्योंने अपने अपने देशों तथा समयोंके शिष्योंकी प्रकृति और योग्यता आदिके अनुसार तय्यार किया था। **और इस लिये सर्व देशों, सर्व समयों और सर्व प्रकारकी प्रकृतिके व्यक्तियोंके लिये अमुक एक ही नुसख़ा उपयोगी होगा, ऐसा हठ करनेकी ज़रूरत नहीं है।** जिस समय और जिस प्रकारकी प्रकृति आदिके व्यक्तियोंके लिये जैसे ओषधिकल्पोंकी जरूरत होती है, बुद्धिमान वैद्य, उस समय और उस प्रकारकी प्रकृति आदिके व्यक्तियोंके लिये वैसे ही ओषधिकल्पोंका प्रयोग किया करते हैं। अनेक नये नये ओषधिकल्प गढ़े जाते हैं, पुरानोंमें फेरफार किया जाता है और ऐसा करनेमें कुछ भी आपत्ति नहीं होती, यदि वे सब रोगशांतिके विरुद्ध न हों। इसी तरहपर देशकालानुसार किये हुए आचार्योंके उपर्युक्त भिन्न शासनोंमें भी प्रायः कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। क्योंकि वे सब जैनसिद्धान्तोंके अविरुद्ध हैं। हाँ, आपेक्षिक दृष्टिसे उन्हें प्रशस्त अप्रशस्त, सुगम दुर्गम, अल्पविपयक बहुविषयक, अल्पफलसाधक बहुफलसाधक इत्यादि जरूर कहा जा सकता है, और इस प्रकारका भेद आचार्योंकी योग्यता और उनके तत्तत्कालीन विचारों पर निर्भर है। अस्तु।

इसी सिद्धान्ताविरोधकी दृष्टिसे यदि आज कोई **महात्मा** वर्तमान देशकालकी परिस्थितियोंको ध्यानमें रखकर उपर्युक्त शीलव्रतोंमें भी कुछ फेरफार करना चाहे और उदाहरणके तौरपर १ क्षेत्र (दिग्देश)-

परिमाण, २ अनर्थदंडविरति, ३ भोगोपभोगपरिमाण, ४ आव-श्यकतानुत्पादन, ५ अन्तःकरणानुवर्तन, ६ सामायिक और ७ निष्कामसेवा (अनपेक्षितोपकार) नामके सप्तशीलव्रत, अथवा गुणव्रत और शिक्षाव्रत, स्थापित करे तो वह खुशीसे ऐसा कर सकता है। उसमें कोई आपत्ति किये जानेकी जरूरत नहीं है और न यह कहा जा सकता है कि उसका ऐसा विधान जिनेंद्रदेवकी आज्ञाके विरुद्ध है अथवा महा-वीर भगवानके शासनसे बाहर है; क्योंकि उक्त प्रकारका विधान जैन-सिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं है। और जो विधान जैनसिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं होता वह सब महावीर भगवानके अनुकूल है। उसे प्रका-रान्तरसे जैनसिद्धान्तोंकी व्याख्या अथवा उनका व्यावहारिक रूप सम-झना चाहिये, और इस दृष्टिसे उसे महावीर भगवानका शासन भी कह सकते हैं। परंतु भिन्न शासनोंकी हालतमें महावीर भगवानने यही कहा, ऐसा ही कहा, इसी क्रमसे कहा इत्यादिक मानना मिथ्या होगा और उसे प्रायः मिथ्यादर्शन समझना चाहिये। अतः उससे बचकर यथार्थ वस्तुस्थितिको जानने और उसपर ध्यान रखनेकी कोशिश करनी चाहिये। इसीमें वास्तविक हित संनिहित है। और यह बात पहले भी बतलाई जा चुकी है।

यहाँ श्वेताम्बर आचार्योंकी दृष्टिसे मैं, इस समय, सिर्फ इतना और बतला देना चाहता हूँ कि, श्वेताम्बरसम्प्रदायमें अमतौरपर १ दिग्व्रत, २ उपभोगपरिभोगपरिमाण, ३ अनर्थदंडविरति, इन तीनको गुणव्रत और १ सामायिक, २ देशावकाशिक, ३ प्रोषधोपवास, ४ अतिथि

---

१ जरूरतोंको बढ़ने न देना, प्रत्युत घटाना। २ अन्तःकरणकी आवाज़के विरुद्ध न चलना।

संविभाग, इन चारको शिक्षाव्रत माना है*। उनका 'श्रावकप्रज्ञप्ति' नामक ग्रंथ भी इन्हींका विधान करता है और, 'योगशास्त्र' में, श्रीहेमचंद्राचार्यने भी इन्हीं व्रतोंका, इसी क्रमसे, प्रतिपादन किया है। तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार श्रीसिद्धसेनगणि और यशोभद्रजी, अपनी अपनी टीकाओंमें, लिखते हैं:—

"गुणव्रतानि त्रीणि दिग्भोगपरिभोगपरिमाणानर्थदंडविरतिसंज्ञानि....शिक्षापदव्रतानि सामायिकदेशावकाशिकप्रोषधोपवासातिथिसंविभागाख्यानि चत्वारि।"

इससे भी उक्त व्रतोंका समर्थन होता है। बल्कि इन दोनों टीकाकारोंने जिस प्रकारसे उमास्वातिपर आर्षक्रमोल्लंघनका आरोप लगाकर उसका समाधान किया है, और जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, उससे ऐसा मालूम होता है कि श्वेताम्बरसम्प्रदायके आगमग्रंथोंमें भी, जिन्हें वे गणधर सुधर्मास्वामी आदिके बनाये हुए बतलाते हैं, इन्हीं सब व्रतोंका इसी क्रमसे विधान किया गया है। परंतु उनमें गुणव्रत और शिक्षाव्रतका विभाग भी किया गया है या कि नहीं, यह बात अभी संदिग्ध है। क्योंकि 'उपासकदशा' नामके आगम ग्रंथमें, जो द्वादशांगवाणीका सातवाँ अंग कहलाता है, ऐसा कोई विभाग नहीं है। उसमें इन व्रतोंको, उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र, तत्वार्थाधिगमभाष्य और

* ये सब व्रत प्रायः वही हैं जो ऊपर स्वामी समंतभद्राचार्यके शासनमें दिखलाये गये हैं और इस लिये श्वेताम्बर आचार्योंका शासन, इस विषयमें, प्रायः समंतभद्रके शासनसे मिलता जुलता है। सिर्फ दो एक व्रतोंमें, क्रमभेद अवश्य है। समंतभद्रने अनर्थदंडविरतिको दूसरे नम्बर पर रक्खा है और यहाँ उसे तीसरा स्थान प्रदान किया गया है। इसी तरह शिक्षाव्रतोंमें देशावकाशिकको यहाँ पहले नम्बर पर न रख कर दूसरे नम्बर पर रक्खा गया है। इसके सिवाय, चौथे शिक्षाव्रतके नाममें भी कुछ परिवर्तन है।

सूत्रकी उक्त दोनों टीकाओंकी तरह, **शीलव्रत** भी नहीं लिखा, बल्कि **सात शिक्षाव्रत** बतलाया है। यथाः—

"समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जाहि।"

इसके सिवाय, 'अतिथिसंविभाग' को '**यथा संविभाग**' व्रत प्रतिपादन किया है। इससे ऐसा माळूम होता है कि श्वेताम्बर संप्रदायमें पहले इन व्रतोंको सात शिक्षाव्रत माना जाता था, बादमें दिगम्बर सम्प्रदाय की तरह इनके गुणव्रत और शिक्षाव्रत ऐसे दो विभाग किये गये हैं। साथ ही, इन्हें 'शील' संज्ञा भी दी गई है। इसी तरह **यथा-संविभागके** स्थानमें बादको **अतिथिसंविभागका** परिवर्तन किया गया है। संभव है कि इस बादके संपूर्ण परिवर्तनको कुछ आचार्योंने स्वीकार किया हो और कुछने स्वीकार न किया हो। और यह भी संभव है कि दूसरे आगमग्रंथोंमें पहले हीसे गुणव्रत और शिक्षाव्रतके व्यपदेशको लिये हुए इन व्रतोंका शीलव्रतरूपसे विधान हो और चौथे शिक्षाव्रतका नाम अतिथिसंविभाग ही दिया हो। परंतु इस पिछली बातकी संभावना बहुत ही कम—प्रायः नहींके बराबर—जान पडती है; क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रौढ विद्वान **हरिभद्रसूरिने**, 'श्रावकप्रज्ञप्ति' की टीकामें '**विचित्रत्वाच्च देशविरतेः**' नामका जो वाक्य दिया है, और जो 'अष्ट मूलगुण' नामक प्रकरणमें उद्धृत किया जा चुका है, उससे यह साफ ध्वनित होता है कि 'उपासकदशा'से भिन्न श्वेताम्बरोंके दूसरे आगमग्रंथोंमें देशविरति (श्रावक) की कोई विशेष विधि नहीं है। इसीसे हरिभद्रसूरि देशविरतिकी विधिको 'विचित्र' तथा 'अनियमित' बतलाते हैं और उसे अपनी बुद्धिसे पूरा करनेकी अनुमति देते हैं। इत्यलम्।

सरसावा जि० सहारनपुर
ता० ११ जून, सन १९२० } जुगलकिशोर मुख्तार

परिशिष्ट

(क)

जैनतीर्थंकरोंका शासनभेद

जैनसमाजमें, श्रीवट्टकेराचार्यका वनाया हुआ 'मूलाचार' नामका एक यत्याचार-विपयक प्राचीन ग्रन्थ सर्वत्र प्रसिद्ध है। मूल ग्रन्थ प्राकृत-भाषामें है, और उसपर वसुनन्दी सैद्धान्तिककी वनाई हुई 'आचार-वृत्ति' नामकी एक संस्कृत टीका भी पाई जाती है। इस ग्रन्थमें, सामायिकका वर्णन करते हुए, ग्रन्थकर्ता महोदय लिखते हैं:—

बावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥ ७-३२ ॥

अर्थात्—अजितसे लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त बाईस तीर्थंकरोंने 'सामायिक' संयमका और ऋषभदेव तथा महावीर भगवानने 'छेदोपस्थापना' संयमका उपदेश दिया है।

यहाँ मूल गाथामें दो जगह 'च' (य) शब्द आया है। एक चकारसे परिहारविशुद्धि आदि चारित्रका भी ग्रहण किया जा सकता है। और तब यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋषभदेव और महावीर भगवानने सामायिकादि पाँच प्रकारके चारित्रका प्रतिपादन किया है, जिसमें छेदोपस्थापनाकी यहाँ प्रधानता है। शेष बाईस तीर्थंकरोंने केवल सामायिक चारित्रका प्रतिपादन किया है। अस्तु। आदि और अन्तके दोनों तीर्थंकरोंने छेदोपस्थापन संयमका प्रतिपादन क्यों किया है? इसका उत्तर आचार्यमहोदय आगेकी दो गाथाओंमें इस प्रकार देते हैं:—

आचक्खिदुं विभजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि ।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंच पण्णत्ता ॥ ३३ ॥
आदीए दुव्विसोधणे णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपालेया ।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति ॥ ३४ ॥

टीका—"......यस्मादन्यस्मै प्रतिपादयितुं स्वेच्छानुष्ठातुं विभक्तुं विज्ञातुं चापि भवति सुखतरं सामायिकं तेन कारणेन महाव्रतानि पंच प्रज्ञप्तानीति ॥३३॥"
"आदितीर्थे शिष्या दुःखेन शोध्यन्ते सुष्ठु ऋजुस्वभावा यतः। तथा च पश्चिमतीर्थे शिष्या दुःखेन प्रतिपाल्यन्ते सुष्ठु वक्रस्वभावा यतः । पूर्वकालशिष्याः पश्चिमकालशिष्याश्च अपि स्फुटं कल्पं योग्यं अकल्पं अयोग्यं न जानन्ति यतस्तत आदौ निधने च छेदोपस्थापनमुपदिशत इति ॥ ३४ ॥"

अर्थात्—पांच महाव्रतों (छेदोपस्थापना)का कथन इस वजहसे किया गया है कि इनके द्वारा सामायिकका दूसरोंको उपदेश देना, स्वयं अनुष्ठान करना, पृथक पृथक रूपसे भावनामें लाना और सविशेषरूपसे समझना सुगम हो जाता है। आदिम तीर्थमें शिष्य मुश्किलसे शुद्ध किये जाते हैं; क्योंकि वे अतिशय सरलस्वभाव होते हैं। और अन्तिम तीर्थमें शिष्यजन कठिनतासे निर्वाह करते हैं; क्योंकि वे अतिशय वक्रस्वभाव होते हैं। साथ ही, इन दोनों समयोंके शिष्य स्पष्टरूपसे योग्य अयोग्यको नहीं जानते हैं। इसलिये **आदि और अन्तके तीर्थमें इस छेदोपस्थापनाके उपदेशकी ज़रूरत पैदा हुई है।**

यहाँपर यह भी प्रकट कर देना जरूरी है कि छेदोपस्थापनामें हिंसादिकके भेदसे समस्त सावद्यकर्मका त्याग किया जाता

१ इससे पहले, टीकामें, गाथाका शब्दार्थ मात्र दिया है।

है*। इसलिये छेदोपस्थापनाकी 'पंचमहाव्रत' संज्ञा भी है, और इसी लिये आचार्यमहोदयने गाथा नं० ३३में छेदोपस्थापनाका 'पंचमहाव्रत' शब्दोंसे निर्देश किया है। अस्तु। इसी ग्रन्थमें, आगे 'प्रतिक्रमण' का वर्णन करते हुए, श्रीवट्टकेरस्वामीने यह भी लिखा है:—

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स जिणस्स।
अवराहपडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं॥ ७-१२५॥

---

* 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में भट्टाकलंकदेवने भी छेदोपस्थापनाका ऐसा ही स्वरूप प्रतिपादन किया है। यथा:—

"सावद्यं कर्म हिंसादिभेदेन विकल्पनिवृत्तिः छेदोपस्थापना।"

इसी ग्रंथमें अकलंकदेवने यह भी लिखा है कि सामायिककी अपेक्षा व्रत एक है और छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा उसके पाँच भेद हैं। यथा:—

"सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं, भेदपरतंत्रच्छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधं व्रतम्।"

श्रीपूज्यपादाचार्यने भी 'सर्वार्थसिद्धि' में ऐसा ही कहा है। इसके सिवाय, श्रीवीरनन्दि आचार्यने, 'आचारसार' ग्रंथके पाँचवें अधिकारमें, छेदोपस्थापनाका जो निम्न स्वरूप वर्णन किया है उससे इस विषयका और भी स्पष्टीकरण हो जाता है। यथा:—

व्रतसमितिगुप्तिगैः पंच पंच त्रिभिर्मतैः।
छेदैर्भेदैरुपेत्यार्थं स्थापनं स्वस्थितिक्रिया॥ ६॥
छेदोपस्थापनं प्रोक्तं सर्वसावद्यवर्जने।
व्रतं हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मसंगेष्वसंगमः॥ ७॥

अर्थात्—पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति नामके छेदों-भेदोंके द्वारा अर्थको प्राप्त होकर जो अपने आत्मामें स्थिर होने रूप क्रिया है उसको छेदोपस्थापना या छेदोपस्थापन कहते हैं। समस्त सावद्यके त्यागमें छेदोपस्थापनाको हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन (अब्रह्म) और परिग्रहसे विरति रूप व्रत कहा है।

जावे दु अप्पणो वा अण्णदरे वा भवे अदीचारो ।
तावे दु पडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥ १२६ ॥
इरियागोयरसुमिणादि सव्वमाचरदु मा व आचरदु ।
पुरिमचरिमा दु सव्वे सव्वे णियमा पडिक्कमदि ॥ १२७ ॥

अर्थात्—पहले और अन्तिम तीर्थंकरका धर्म, अपराधके होने और न होनेकी अपेक्षा न करके, प्रतिक्रमण-सहित प्रवर्तता है। पर मध्यके बाईस तीर्थंकरोंका धर्म अपराधके होनेपर ही प्रतिक्रमणका विधान करता है। क्योंकि उनके समयमें अपराधकी बहुलता नहीं होती। मध्यवर्ती तीर्थंकरोंके समयमें जिस व्रतमें अपने या दूसरोंके अतीचार लगता है उसी व्रतसम्बन्धी अतीचारके विषयमें प्रतिक्रमण किया जाता है। विपरीत इसके, आदि और अन्तके तीर्थंकरों (ऋषभदेव और महावीर) के शिष्य ईर्या, गोचरी और स्वप्नादिसे उत्पन्न हुए समस्त अतीचारोंका आचरण करो अथवा मत करो उन्हें समस्त प्रतिक्रमण-दण्डकोंका उच्चारण करना होता है। आदि और अन्तके दोनों तीर्थंकरोंके शिष्योंको क्यों समस्त प्रतिक्रमण-दण्डकोंका उच्चारण करना होता है और क्यों मध्यवर्ती तीर्थंकरोंके शिष्य वैसा आचरण नहीं करते? इसके उत्तरमें आचार्यमहोदय लिखते हैं:—

मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खा य ।
तम्हा हु जमाचरंति तं गरहंता विसुज्झंति ॥ १२८ ॥
पुरिमचरमा दु जम्हा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य ।
तो सव्वपडिक्कमणं अंधलयघोडयदिट्ठंतो ॥ १२९ ॥

अर्थात—मध्यवर्ती तीर्थंकरोंके शिष्य विस्मरणशीलतारहित दृढबुद्धि, स्थिरचित्त और मूढतारहित परीक्षापूर्वक कार्य करनेवाले होते हैं। इस

लिये प्रकटरूपसे वे जिस दोषका आचरण करते हैं उस दोषमें आत्म-निन्दा करते हुए शुद्ध हो जाते हैं। पर आदि और अन्तके दोनों तीर्थकरोंके शिष्य चलचित्त, विस्मरणशील और मूढमना होते हैं—शास्त्रका बहुत वार प्रतिपादन करने पर भी उसे नहीं जान पाते। उन्हें क्रमशः ऋजुजड और वक्रजड समझना चाहिये—इसलिये उनके समस्त प्रतिक्रमणदण्डकोंके उच्चारणका विधान किया गया है और इस विषयमें अन्धे घोड़ेका दृष्टान्त वतलाया गया है। टीकाकारने इस दृष्टान्तका जो स्पष्टीकरण किया है उसका भावार्थ इस प्रकार है—

'किसी राजाका घोड़ा अन्धा हो गया। उस राजाने वैद्यपुत्रसे घोड़ेके लिये ओषधि पूछी। वह वैद्यपुत्र वैद्यक नहीं जानता था, और वैद्य किसी दूसरे ग्राम गया हुआ था। अतः उस वैद्यपुत्रने घोड़ेकी आँखको आराम पहुँचानेवाली समस्त ओषधियोंका प्रयोग किया और उनसे वह घोड़ा नीरोग हो गया। इसी तरह साधु भी एक प्रतिक्रमण-दण्डकमें स्थिरचित्त नहीं होता हो तो दूसरेमें होगा, दूसरेमें नहीं तो तीसरेमें, तीसरेमें नहीं तो चौथेमें होगा, इस प्रकार सर्वप्रतिक्रमण-दण्डकोंका उच्चारण करना न्याय है। इसमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि सब ही प्रतिक्रमण-दण्डक कर्मके क्षय करनेमें समर्थ हैं।

मूलाचारके इस सम्पूर्ण कथनसे यह बात स्पष्टतया विदित होती है कि **समस्त जैनतीर्थंकरोंका शासन एक ही प्रकारका नहीं रहा है। बल्कि समयकी आवश्यकतानुसार—लोकस्थितिको देखते हुए—उसमें कुछ परिवर्तन ज़रूर होता रहा है।** और इसलिये जिन लोगोंका ऐसा खयाल है कि जैनतीर्थंकरोंके उपदेशमें परस्पर रंचमात्र भी भेद या परिवर्तन नहीं होता—जो वचनवर्गणा एक तीर्थंकरके मुँहसे

खिरती है वही जँची तुली दूसरे तीर्थंकरके मुँहसे निकलती है, उसमें ज़रा भी फेरफार नहीं होता—यह खयाल निर्मूल जान पड़ता है। शायद ऐसे लोगोंने तीर्थंकरोंकी वाणीको फोनोग्राफ़के रिकार्डोंमें भरे हुए मज़मूनके सदृश समझ रक्खा है!! परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। ऐसे लोगोंको मूलाचारके उपर्युक्त कथनपर खूब ध्यान देना चाहिये।

पं० आशाधरजीने भी, अपने 'अनगारधर्मामृत' ग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञ-टीकामें, तीर्थंकरोंके इस शासनभेदका उल्लेख किया है। जैसा कि आपके निम्नवाक्योंसे प्रकट है:—

"आदिमान्तिमतीर्थकरावेव व्रतादिभेदेन सामायिकमुपदिशतः स्म नाऽजितादयो द्वाविंशतिरिति सहेतुकं व्याचष्टे—

दुःशोधमृजुजडैरिति पुरुरिव वीरोऽदिशद्व्रतादिभिदा।
दुष्पालं वक्रजडैरिति साम्यं नापरे सुपटुशिष्याः॥ ९-८७॥

टीका—अदिशादुपदिष्टवान्। कोऽसौ? वीरोऽन्तिमतीर्थकरः। किं तत्? साम्यं सामायिकाख्यं चारित्रम्। कया? व्रतादिभिदा व्रतसमितिगुप्तिभेदेन। कुतो हेतोः? इति। किमिति? भवति। किं तत्? साम्यम्। कीदृशम्? दुष्पालं पालयितुमशक्यम्। कैः? वक्रजडैरनार्जवजाड्योपेतैः शिष्यैर्ममेति। क इव? पुरुरिव। इव शब्दो यथार्थः। यथा पुरुरादिनाथः साम्यं व्रतादिभिदाऽदिशत्। कुतो हेतोः? इति। किमिति? भवति। किं तत्? साम्यं। कीदृशम्? दुःशोधं शोधयितुमशक्यम्। कैः ऋजुजडैरार्जवजाड्योपेतैः शिष्यैर्ममेति। तथाऽपरेऽजितादयो द्वाविंशतिस्तीर्थकरा व्रतादिभिदा साम्यं नादिशन्। साम्यमेव व्रतमिति कथयन्ति स्म स्वशिष्याणामग्रे। कीदृशास्ते? सुपटुशिष्याः यतः ऋजुवक्रजडत्वाभावात् सुष्ठु पटवो व्युत्पन्नतमाः शिष्या येषां त एवम्॥"

× × × × ×

"निन्दागर्हालोचनाभियुक्तो युक्तेन चेतसा ।
पठेद्वा शृणुयाच्छुद्धयै कर्मघ्नान् नियमान् समान् ॥८-६२॥

टीका—पठेदुच्चरेत् साधुः शृणुयाद्वा आचार्यादिभ्य आकर्णयेत्। कान्? नियमान् प्रतिक्रमणदण्डकान्। किंविशिष्टान्? समान् सर्वान् ।......इदमत्र तात्पर्यं, यस्मादैदंयुगीना दुःखमाकालानुभावाद्वक्रजडीभूताः स्वयमपि कृतं व्रताद्यतिचारं न स्मरन्ति चलचित्तत्वाचासकृत्प्रायशोपराध्यन्ति तस्मादीर्यादिषु दोषो भवतु वा मा भवतु तैः सर्वातिचारविशुद्धयर्थं सर्वे प्रतिक्रमणदण्डकाः प्रयोक्तव्याः। तेषु यत्र क्वचिच्चित्तं स्थिरं भवति तेन सर्वोऽपि दोषो विशोध्यते। ते हि सर्वेऽपि कर्मघातसमर्थाः। तथा चोक्तम्—

* सप्रतिक्रमणो धर्मो जिनयोरादिमान्त्ययोः ।
अपराधे प्रतिक्रान्तिर्मध्यमानां जिनेशिनाम् ॥
यदोपजायते दोष आत्मन्यन्यतरत्र वा ।
तदैव स्यात्प्रतिक्रान्तिर्मध्यमानां जिनेशिनाम् ॥
ईर्यागोचरदुःस्वप्नप्रभृतौ वर्ततां न वा ।
पौरस्त्यपश्चिमाः सर्वे प्रतिक्रामन्ति निश्चितम् ॥
मध्यमा एकचित्ता यदमूढदृढबुद्धयः ।
आत्मनानुष्ठितं तस्माद्गर्हमाणाः सृजन्ति तम् ॥
पौरस्त्यपश्चिमा यस्मात्समोहाश्चलचेतसः ।
ततः सर्वं प्रतिक्रान्तिरन्धोऽश्वोऽत्र निदर्शनम् ॥"

और श्रीपूज्यपादाचार्यने, अपनी 'चारित्रभक्ति' में, इस विषयका एक पद्य निम्नप्रकारसे दिया है:—

* ये पाँचों पद्य, जिन्हें पं० आशाधरजीने अपने कथनके समर्थनमें उद्धृत किया है, विक्रमकी प्रायः १३ वीं शताब्दीसे पहलेके बने हुए किसी प्राचीन ग्रंथके पद्य हैं। इनका सब आशय क्रमशः वही है जो मूलाचारकी उक्त गाथा नं० १२५से १२९का है। इन्हें उक्त गाथाओंकी छाया न कहकर उनका पद्यानुवाद कहना चाहिये।

तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि ।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दिष्टं परै-
राचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरान्नमामो वयम् ॥ ७ ॥

इसमें कायादि तीन गुप्ति, ईर्यादि पंच समिति और अहिंसादि पंच महाव्रतरूपसे त्रयोदश प्रकारके चारित्रको 'चारित्राचार' प्रतिपादन करते हुए उसे नमस्कार किया है और साथही यह वतलाया है कि '**यह तेरह प्रकारका चारित्र महावीर जिनेन्द्रसे पहलेके दूसरे तीर्थंकरोंद्वारा उपदिष्ट नहीं हुआ है**'—अर्थात्, इस चारित्रका उपदेश महावीर भगवान्ने दिया है, और इसलिये यह उन्हींका खास शासन है। यहाँ '**वीरात् पूर्वं न दिष्टं परैः**' शब्दों परसे, यद्यपि, यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि महावीर भगवान्से पहलेके किसी भी तीर्थंकरने—ऋषभदेवने भी—इस तेरह प्रकारके चारित्रका उपदेश नहीं दिया है, परन्तु टीकाकार **प्रभाचन्द्राचार्यने** '**परैः**' पदके वाच्यको भगवान् '**अजित**' तक ही सीमित किया है—**ऋषभदेव** तक नहीं। अर्थात्, यह सुझाया है कि—पार्श्वनाथसे लेकर अजितनाथपर्यंत पहलेके बाईस तीर्थंकरोंने इस तेरह प्रकारके चारित्रका उपदेश नहीं दिया है—उनके उपदेशका विषय एक प्रकारका चारित्र (सामायिक) ही रहा है—यह तेरह प्रकारका चारित्र श्रीवर्धमान महावीर और आदिनाथ (ऋषभदेव)के द्वारा उपदेशित हुआ है। जैसा कि आपकी टीकाके निम्न अंशसे प्रकट है:—

"........**परैः** अन्यतीर्थंकरैः। कस्मात्परैः? **वीरादन्यतीर्थंकरात्**। किंविशिष्टात्? **जिनपतेः**......। परैरजितादिभिर्जिननाथैस्त्रयोदशभेदभिन्नं चारित्रं न कथितं सर्वसावद्यविरतिलक्षणमेकं चारित्रं तैर्विनिर्दिष्टं तत्कालीनशिष्याणां ऋजुवक्रजडमतित्वाभावात्। वर्धमानस्वामिना तु वक्रजडमतिभव्याशयवशात् आदिदेवेन तु ऋजुजडमतिविनेयवशात् त्रयोदशविधं निर्दिष्टं आचारं नमामो वयम्।"

संभव है कि 'परैः' पदकी इस सीमाके निर्धारित करनेका उद्देश्य मूलाचारके साथ पूज्यपादके इस कथनकी संगतिको ठीक बिठलाना रहा हो। परन्तु वास्तवमें यदि इस सीमाको न भी निर्धारित किया जाय और यह मान लिया जाय कि ऋषभदेवने भी इस त्रयोदशविधरूपसे चारित्रका उपदेश नहीं दिया है तो भी उसका मूलाचारके साथ कोई विरोध नहीं आता है। क्योंकि यह हो सकता है कि ऋषभदेवने पंचमहाव्रतोंका तो उपदेश दिया हो—उनका छेदोपस्थापना संयम अहिंसादि पंच-भेदात्मक ही हो—किन्तु पंचसमितियों और तीन गुप्तियोंका उपदेश न दिया हो, और उनके उपदेशकी ज़रूरत भगवान् महावीरको ही पड़ी हो। और इसी लिये उनका छेदोपस्थापन संयम इस तेरह प्रकारके चारित्रभेदको लिये हुए हो, जिसकी उनके नामके साथ खास प्रसिद्धि पाई जाती है। परन्तु कुछ भी हो, ऋषभदेवने भी इस तेरह प्रकारके चारित्रका उपदेश दिया हो या न दिया हो, किन्तु इसमें तो सन्देह नहीं कि शेष बाईस तीर्थंकरोंने उसका उपदेश नहीं दिया है।

यहाँपर इतना और भी बतला देना ज़रूरी है कि भगवान् महावीरने इस तेरह प्रकारके चारित्रमेंसे दस प्रकारके चारित्रको—पंचमहाव्रतों और पंचसमितियोंको—मूलगुणोंमें स्थान दिया है। अर्थात्, साधुओंके अट्ठाईस* मूलगुणोंमें दस मूलगुण इन्हें क़रार दिया है।

---

* अट्ठाईस मूलगुणोंके नाम इसप्रकार हैं:—

१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य, ५ अपरिग्रह (ये पाँच महाव्रत); ६ ईर्या, ७ भाषा, ८ एषणा, ९ आदाननिक्षेपण, १० प्रतिष्ठापन, (ये पांच समिति); ११–१५ स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र-निरोध (ये पंचेंद्रियनिरोध); १६ सामायिक, १७ स्तव, १८ वन्दना, १९ प्रतिक्रमण, २० प्रत्याख्यान,

तब यह स्पष्ट है कि श्रीपार्श्वनाथादि दूसरे तीर्थंकरोंके मूलगुण भगवान् महावीरद्वारा प्रतिपादित मूलगुणोंसे भिन्न थे और उनकी संख्या भी अट्टाईस नहीं हो सकती—दसकी संख्या तो एकदम कम हो ही जाती है; और भी कितने ही मूलगुण इनमें ऐसे हैं जो उस समयके शिष्योंकी उक्त स्थितिको देखते हुए अनावश्यक प्रतीत होते हैं। वास्तवमें मूलगुणों और उत्तरगुणोंका सारा विधान समयसमयके शिष्योंकी योग्यता और उन्हें तत्तत्कलीन परिस्थितियोंमें सन्मार्गपर स्थिर रख सकनेकी आवश्यकतापर अवलम्बित रहता है। इस दृष्टिसे जिस समय जिन व्रतनियमादिकोंका आचरण सर्वोपरि मुख्य तथा आवश्यक जान पड़ता है उन्हें **मूलगुण** क़रार दिया जाता है और शेषको **उत्तरगुण**। **इसीसे सर्व समयोंके मूलगुण कभी एक प्रकारके नहीं हो सकते**। किसी समयके शिष्य संक्षेपप्रिय होते हैं अथवा थोड़ेमें ही समझ लेते हैं और किसी समयके विस्ताररुचिवाले अथवा विशेष खुलासा करनेपर समझनेवाले। कभी लोगोंमें ऋजुजड़ताका अधिक संचार होता है, कभी वक्रजड़ताका और कभी इन दोनोंसे अतीत अवस्था होती है। किसी समयके मनुष्य स्थिरचित्त, दृढबुद्धि और बलवान होते हैं और किसी समयके चलचित्त, विस्मरणशील और निर्बल। कभी लोकमें मूढ़ता बढ़ती है और कभी उसका ह्रास होता है। इस लिये **जिस समय जैसी जैसी प्रकृति और योग्यताके शिष्योंकी—उपदेशपात्रोंकी—बहुलता होती है उस उस वक्तकी जनताको लक्ष्य करके तीर्थंकरोंका उसके उपयोगी वैसा ही उपदेश तथा वैसा ही व्रत-नियमादिकका विधान होता है।**

---

२१ कायोत्सर्ग (ये षडावश्यक क्रिया); २२ लोच, २३ आचेलक्य, २४ अस्नान, २५ भूशयन, २६ अदन्तघर्षण, २७ स्थितिभोजन, और २८ एकभक्त।

उसीके अनुसार मूलगुणोंमें भी हेरफेर हुआ करता है। परंतु इस भिन्न प्रकारके उपदेश, विधान या शासनमें परस्पर उद्देश्य-भेद नहीं होता। समस्त जैनतीर्थकरोंका वही मुख्यतया एक उद्देश्य **'आत्मासे कर्म-मलको दूर करके उसे शुद्ध, सुखी, निर्दोप और स्वाधीन बनाना'** होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि संसारी जीवोंको संसाररोग दूर करनेके मार्गपर लगाना ही जैनतीर्थंकरोंके जीवनका प्रधान लक्ष्य होता है। अस्तु। एक रोगको दूर करनेके लिये जिस प्रकार अनेक ओषधियाँ होती हैं और वे अनेकप्रकारसे व्यवहारमें लाई जाती हैं; रोग-शांतिके लिये उनमेंसे जिसवक्त जिस ओषधिको जिसविधिसे देनेकी जरूरत होती है वह उसवक्त उसी विधिसे दी जाती है—इसमें न कुछ विरोध होता है और न कुछ बाधा आती है। उसी प्रकार संसाररोग या कर्मरोगको दूर करनेके भी अनेक साधन और उपाय होते हैं, जिनका अनेक प्रकारसे प्रयोग किया जाता है। उनमेंसे तीर्थंकर भगवान् अपनी अपनी समयकी स्थितिके अनुसार जिस जिस उपायका जिस जिस रीतिसे प्रयोग करना उचित समझते हैं उसका उसी रीतिसे प्रयोग करते हैं। उनके इस प्रयोगमें किसी प्रकारका विरोध या बाधा उपस्थित होनेकी संभावना नहीं हो सकती। इन्हीं सब बातोंपर मूलाचारके विद्वान् आचार्यमहोदयने, अपने ऊपर उल्लेख किये हुए वाक्योंद्वारा, अच्छा प्रकाश डाला है और अनेक युक्तियोंसे जैनतीर्थंकरोंके शासन-भेदको भलेप्रकार प्रदर्शित और सूचित किया है। इसके सिवाय, दूसरे विद्वानोंने भी इस शासनभेदको माना तथा उसका समर्थन किया है, यह और भी विशेपता है*।

* श्वेताम्बरग्रन्थोंमें भी जैनतीर्थंकरोंके शासन-भेदका उल्लेख मिलता है, जिसके कुछ अवतरण परिशिष्ट (ख)में दिये गये हैं।

आशा है इस लेखको पढ़कर सर्वसाधारण जैनीभाई, सत्यान्वेषी और अन्य ऐतिहासिक विद्वान् ऐतिहासिक क्षेत्रमें कुछ नया अनुभव प्राप्त करेंगे और साथ ही इस बातकी खोज लगायँगे कि जैनतीर्थंकरोंके शासनमें और किन किन बातोंका परस्पर भेद रहा है ।

जुगलकिशोर मुख्तार

—✠—

परिशिष्ट

(ख)

श्वेताम्बरोंके यहाँ भी जैनतीर्थंकरोंके शासनभेदका कितना ही उल्लेख मिलता है, जिसके कुछ नमूने इसप्रकार हैं:—

(१) ' आवश्यकनिर्युक्ति 'में, जो भद्रबाहु श्रुतकेवलीकी रचना कही जाती है, दो गाथाएँ निम्नप्रकारसे पाई जाती हैं—

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
मज्झिमयाण जिणाणं कारणजाए[1] पडिक्कमणं ॥ १२४४ ॥
बावीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवइसंति ।
छेओवट्ठावणयं पुण वयन्ति उसभो य वीरो य ॥ १२४६ ॥

ये गाथाएँ साधारणसे पाठभेदके साथ, जिससे कोई अर्थभेद नहीं होता, वे ही हैं जो ' मूलाचार 'के ७ वें अध्यायमें क्रमशः नं० १२५ और ३२ पर पाई जाती हैं । और इसलिये, इस विषयमें, निर्युक्तिकार और मूलाचारके कर्ता श्रीवट्टकेराचार्य दोनोंका मत एक जान पड़ता है ।

१ ' कारणाजाते' अपराध एवोत्पन्ने सति प्रतिक्रमणं भवति—इति हरिभद्रः ।

(२) 'उत्तराध्ययनसूत्र' में 'केशि-गौतम-संवाद' नामका एक प्रकरण (२३ वाँ अध्ययन) है, जिसमें सबसे पहले पार्श्वनाथके शिष्य (तीर्थशिष्य) केशी स्वामीने महावीर-शिष्य गौतम गणधरसे दोनों तीर्थंकरोंके शासनभेदका कुछ उल्लेख करते हुए उसका कारण दर्याफ्त किया है और यहाँतक पूछा है कि धर्मकी इस द्विविध प्ररूपणा अथवा मतभेद पर क्या तुम्हें कुछ अविश्वास या संशय नहीं होता है ? तब गौतमस्वामीने उसका समाधान किया है। इस संवादके कुछ वाक्य (भावविजयगणीकी व्याख्यासहित) इसप्रकार हैं:—

चाउज्जामो अ जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥ २३ ॥

व्याख्या—चतुर्यामो हिंसानृतस्तेयपरिग्रहोपरमात्मकव्रतचतुष्करूपः, पंचशिक्षितः स एव मैथुनविरतिरूपपंचमहाव्रतान्वितः ॥ २३ ॥

एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं।
धम्मे दुविहे मेहावी ! कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥ २४ ॥

व्याख्याः—'धम्मेति' इत्थं धर्मे साधुधर्मे द्विविधे हे मेधाविन् कथं विप्रत्ययः अविश्वासो न ते तव ? तुल्ये हि सर्वज्ञत्वे किं कृतोऽयं मतभेदः ? इति ॥ २४ ॥
एवं तेनोक्ते—

तओ केसिं बुवंतं तु, गोअमो इणमब्बवी।
पण्णा समिक्खए धम्मं-तत्तं तत्तविणिच्छयं ॥ २५ ॥

व्याख्या—'बुवंतं तुत्ति' ब्रुवन्तमेवाऽनेनादरातिशयमाह, प्रज्ञा बुद्धिः समीक्ष्यते पश्यति, किं तदित्याह—'धम्मं-तत्तंति' बिन्दोर्लोपे धर्मतत्त्वं धर्मपरमार्थं, तत्त्वानां जीवादीनां विनिश्चयो यस्मात्तत्तथा, अयं भावः—न वाक्यश्रवणमात्रादेवार्थनिर्णयः स्यात्किन्तु प्रज्ञावशादेव ॥ २५ ॥ ततश्च—

पुरिमा उज्जुजडा उ, वक्कजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपण्णा उ, तेण धम्मे दुहा कए ॥ २६ ॥

व्याख्या—'पुरिमत्ति' पूर्वे प्रथमजिनमुनयः ऋजवश्च प्रांजलतया जडाश्च दुष्प्रज्ञाप्यतया ऋजुजडाः, 'तु' इति यस्माद्धेतोः वक्राश्च वक्रप्रकृतित्वाज्जडाश्च निजानेककुविकल्पैः विवक्षितार्थावगमाक्षमत्वाद्वक्रजडाः, चः समुच्चये, पश्चिमाः पश्चिमजिनतनयाः। मध्यमास्तु मध्यमार्हतां साधवः, ऋजवश्च ते प्रज्ञाश्च सुबोधत्वेन ऋजुप्रज्ञाः। तेन हेतुना धर्मो द्विधा कृतः। एककार्यप्रपन्नत्वेपि इति प्रक्रमः॥२६॥ यदि नाम पूर्वादिमुनीनामीदृशत्वं, तथापि कथमेतद्द्वैविध्यमित्याह—

पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ॥ २७॥

व्याख्या—पूर्वेषां दुःखेन विशोध्यो निर्मलतां नेतुं शक्यो दुर्विशोध्यः, कल्प इति योज्यते, ते हि ऋजुजडत्वेन गुरुणानुशिष्यमाणा अपि न तद्वाक्यं सम्यगवबोद्धु प्रभवन्तीति तुः पूर्तौ। चरमाणां दुःखेनानुपाल्यते इति दुरनुपालः स एव दुरनुपालः कल्पः साध्वाचारः। ते हि कथंचिज्जानन्तोऽपि वक्रजडत्वेन न यथावदनुष्ठातुमीशते। मध्यमकानां तु विशोध्यः सुपालकः कल्प इतीहापि योज्यं, ते हि ऋजुप्रज्ञत्वेन सुखेनैव यथावज्जानन्ति पालयन्ति च अतस्ते चतुर्यामोक्तावपि पंचममपि यामं ज्ञातुं पालयितुं च क्षमाः। यदुक्तं—"नो अपरिग्गहिआए, इत्थीए जेण होइ परिभोगो। ता तव्विरईए च्चिअ, अबंभविरइत्ति पण्णाणं॥१॥ इति तदपेक्षया श्रीपार्श्वस्वामिना चतुर्यामो धर्म उक्तः पूर्वपश्चिमास्तु नेदृशा इति श्रीऋषभश्रीवीरस्वामिभ्यां पंचव्रतः। तदेवं विचित्रप्रज्ञविनेयानुग्रहाय धर्मस्य द्वैविध्यं न तु तात्त्विकं। आद्यजिनकथनं चेह प्रसंगादिति सूत्रपंचकार्थः॥ २७॥

इस संवादकी २६ वीं और २७ वीं गाथामें शासनभेदका जो कारण बतलाया गया है—भेदमें कारणीभूत तत्तत्कालीन शिष्योंकी जिस परिस्थिति-विशेषका उल्लेख किया गया है—वह सब वही है जो मूलाचारादि दिगम्बर ग्रंथोंमें वर्णित है। बाकी, पार्श्वनाथके 'चतुर्याम' धर्मका जो यहाँ उल्लेख किया गया है उसका आशय यदि वही है जो टीकाकारने अहिंसादि चार व्रतरूप बतलाया है, तो वह दिगम्बर सम्प्रदायके कथनसे कुछ भिन्न जान पड़ता है।

(३) 'प्रज्ञापनासूत्र' की मलयगिरि-टीकामें भी तीर्थंकरोंके शासन भेदका कुछ उल्लेख मिलता है। यथाः—

"यद्यपि सर्वमपि चारित्रमविशेषतः सामायिकं तथापि छेदादिविशेषैर्विशिष्यमाणमर्थतः शब्दान्तरतश्च नानात्वं भजते, प्रथमं पुनरविशेषणात् सामान्यशब्द एवावतिष्ठते सामायिकमिति तच्च द्विधा—इत्वरं यावत्कथिकं च, तत्रेत्वरं भरतैरावतेषु प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थेष्वानारोपितमहाव्रतस्य शैक्षकस्य विज्ञेयं, यावत्कथिकं च प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकालादारभ्याप्राणोपरमात्, तच्च भरतैरावतभाविमध्यद्वाविंशतितीर्थकरतीर्थान्तरगतानां विदेहतीर्थंकरतीर्थान्तरगतानांच साधूनामवसेयं तेषामुपस्थापनाया अभावात्। उक्तं च—

सव्वमिणं सामाइय छेयाइविसेसियं पुण विभिन्नं।
अविसेसं सामाइय ठियमिह सामन्नसन्नाए॥ १॥
सावज्जजोगविरइ त्ति तत्थ सामाइयं दुहा तं च।
इत्तरमावकहं ति य पढमं पढमंतिमजिणाणं॥ २॥
तित्थेसु अणारोवियवयस्स सेहस्स थोवकालीयं।
सेसाण यावकहियं तित्थेसु विदेहयाणं च॥ ३॥

तथा छेदः पूर्वपर्यायस्य उपस्थापना च महाव्रतेषु यस्मिन् चारित्रे तच्छेदोपस्थापनं, तच्च द्विविधा—सातिचारं निरतिचारं च, तत्र निरतिचारं यदित्वरसामायिकवतशैक्षकस्य आरोप्यते तीर्थान्तरसंक्रान्तौ वा, यथा पार्श्वनाथतीर्थाद् वर्धमानतीर्थं संक्रामतः पंचयामप्रतिपत्तौ, सातिचारं यन्मूलगुणघातिनः पुनर्व्रतोच्चारणं, उक्तं च—

सेहस्स निरइयारं तित्थन्तरसंकमे व तं होज्जा।
मूलगुणघाइणो साइयारमुभयं च ठियकप्पे॥ १॥

'उभयं चेति' सातिचारं निरतिचारं च 'स्थितकल्पे' इति प्रथमपश्चिमतीर्थंकरः तीर्थंकाले।"

इस उल्लेखमें अजितसे पार्श्वनाथपर्यंत बाईस तीर्थंकरोंके साधुओंके जो छेदोपस्थापनाका अभाव बतलाया है और महाव्रतोंमें स्थित होनेरूप चारित्रको छेदोपस्थापना लिखा है वह मूलाचारके कथनसे मिलता जुलता है। शेष कथनको विशेष अथवा भिन्न कथन कहना चाहिये।

समाप्त

—:*:—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	१८	वादर	वादर
१४	२१	निशासन	निशाशन
२४	५	अणुव्रत और महाव्रत	अणुव्रती और महाव्रती
,,	२२	पढगं	पढमं
२६	२१	तम्वोलो सहु जलमुइवि	तम्वोलोसहु जल मुइवि
,,	,,	अंथविए	अत्थमिए
३३	४	—दीयते	—दत्ते
३६	२१	रक्खहं	रक्खहुं
३७	१२	पुन	पुण
३९	१८	रक्खहं	रक्खहुं
,,	१९	वट्ठकेरः	वट्टकेरः
४२	१६	सागर	सागार
४३	३, ५	विदियं	विदियं
,,	१०	शिवकोठि	शिवकोटि
४८	२२	अभितगतिः	अमितगतिः
४९	१	चतुर्मेदं	चतुर्भेदं
५२	१६	इन्द्रिय	इंदिय
५६	३	शस्य	सस्य
५७	२२	तिष्ठन्ते	संतिष्ठन्ते
५८	२१	देसाम्मि	देसम्मि
५९	५	—स्तिष्टन्	—स्तिष्ठन्
६२	१९	अमतौर	आम तौर